अध्यात्म और व्यवहार

भाग - 1

ॐ

लेखक :-
परम संत डा. नरेन्द्र कुमार जी

रामाश्रम सत्संग, मथुरा

अध्यात्म और व्यवहार

(भाग १)

ब्रह्मलीन परमसंत डा० नरेन्द्र कुमार जी

✡

रामाश्रम सत्संग, मथुरा.

प्रकाशक :
साधन प्रकाशन
डैम्पियर नगर, मथुरा.

★

★

मूल्य – 15/-

★

मुद्रक :
साधन प्रेस
डैम्पियर नगर, मथुरा.

आमुख

मानव जीवन के कल्याण के निमित्त महापुरुषों ने सदैव इस वसुधा पर कृपा कर मार्गदर्शन किया है । इस सन्दर्भ में अपने गुरु महाराज (समर्थ गुरु परमसन्त डा० चतुर्भुज सहाय जी) ने जो आन्तरिक सत्संग को सरल से सरलतम रूप देकर "रामाश्रम सत्संग" के नाम से जीव कल्याण हेतु शुरू किये यह पूर्ण रूप से विशुद्ध व अद्वितीय है जिसका अनुभव कोई भी अध्यात्म मार्गी इस क्रिया को अपनाकर कर सकते हैं । यह किसी भी प्रकार से समुदाय या सम्प्रदाय के विचार धारा से आबद्ध नहीं है । इसी ओर परमपूज्य श्री डा० नरेन्द्र कुमार जी (छोटे भैया) द्वारा जगह-जगह दिये गए प्रवचनों का संकलन "अध्यात्म और व्यवहार" नाम से यह पुस्तक पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है । इसमें श्री गुरु महाराज जी के अनुभव को आपने सउदाहरण समझाया है । इन तथ्यों को हृदयंगम कर इस मार्ग के पथिक को निश्चित सफलता मिलेगी ।

रामनवमी १९९४

वैद्यनाथ सहाय
प्रोफेसर

विषय - सूची

☆☆

दर्शन की छटपटाहट

अध्यात्म ज्ञान मनोमय कोश से प्रारम्भ होता है । आप सब जानते ही हैं कि इस मार्ग के साधक को पाँच कोश तै करने पड़ते हैं । प्रथम तो अन्नमय कोश होता है । वह उसी दिन पार हो जाता है जिस दिन साधक यह विचार करता है कि मुझे परमात्मा प्राप्त करना है । दूसरा कोश प्राणमय कोश कहलाता है। यहाँ की जो साधनाएँ हैं उनमें मुख्य कर्त्ता, इन्द्रियाँ होती हैं, मन साथ देता है । इसमें जो साधना है, उनको हम कर्मयोग के नाम से जानते हैं : – जैसे मन्दिर जाना, रामायण पढ़ना, गीता पढ़ना, भजन गाना, कीर्तन करना, जाप करना, आसन, प्राणायाम इत्यादि । यह सब इसी कोटि के हैं । जब इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, संयम में आ जाती हैं तो साधक मनोमय कोश में पदार्पण करता है । यहाँ इन साधनाओं का मुख्य कर्त्ता मन होता है, बुद्धि सहायता करती है । जैसा नाम है मनोमय कोश -- यहाँ की सारी साधनाएँ मन को निर्मल करने के लिये हैं । उसको शान्त और स्थिर बनाने के लिए हैं । यहाँ की जो साधनाएँ हैं जैसा मैंने अभी कहा उनको उपासना कहते हैं । यानी उप-आसन । यहाँ पर मन के द्वारा हम एक कल्पना करते हैं कि परमात्मा और हम आमने-सामने हैं । जब हम यहाँ पर परमात्मा की कल्पना निराकार करते हैं तो यह उपासना कहलाती है । जब साकार करते हैं तो भक्ति । सन्त मत में जो साधनायें हैं वह यहीं से प्रारम्भ होती हैं जब इन्द्रियाँ मन के द्वारा संचालित होती हैं । इसलिये मन को अगर हम शान्त और स्थिर कर लें तो इन्द्रियाँ अपने आप शान्त हो जायेंगी । इसलिए सन्त मत में प्राणमय कोश की साधना को छोड़ देते हैं । उसमें समय बर्बाद न हो, जल्दी कार्य हो जाए; इसलिए उपासना की

क्रिया करते हैं । यहीं पर साधक को, जब मन शान्त होने लगता है तो परमात्मा का प्रथम दर्शन होता है । उस समय उसको वह शान्ति मिलती है जिसका विरल भाई साहब ने सुबह जिक्र किया था । हालांकि यह दर्शन नकली ही होता है तब भी उसको सुख और शान्ति प्राप्त होती है । मनोमय कोश में जब मन स्थिर और शान्त हो जाता है तो आगे विज्ञानमय कोश आता है जहाँ पर बुद्धि कर्ता होती है । बुद्धि के द्वारा हम परम पिता परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं जहाँ पर जाके विज्ञानमय कोश पर साधना खत्म हो जाती है और ज्ञान अपने आप उतरने लगता है । आगे जाकर जब बुद्धि भी निर्मल हो जाती है तो साधक आनन्दमय कोश में आता है । उसमें मुख्य काम प्रेम है और उसके बाद वह गुरु के चरणों में सब कुछ समर्पित कर देता है । जैसे मैंने कहा कि यह पाँच कोश पूरे करने पर हमको असली परमात्मा का दर्शन होता है परन्तु नकली दर्शन जो मनोमय कोश में होता है वह भी हम प्राप्त नहीं करते । इसके कुछ कारण हैं । जितने पत्र आते हैं उसमें अधिकतर यही शिकायत लिखी होती है कि इतने वर्षों से हम साधना कर रहे हैं लेकिन मन नहीं लगता, मन शान्त नहीं होता तो इसी बात को थोड़ा समझने की कोशिश करें । पहली बात समझने की यह है कि हमारे अन्दर चाह कितनी है कि हम परमात्मा को प्राप्त करें । यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है । अधिकतर हम चाहते यह हैं कि संसार को उतना ही पकड़े रहें जितना पहले पकड़े थे और परमात्मा भी प्राप्त हो जाय । पूज्य पण्डित जी इस बारे में एक प्रसंग सुनाते थे कि एक महात्मा के पास एक जिज्ञासु पहुँचा और बोला कि परमात्मा के दर्शन क्यों नहीं होते तो उन्होंने पहले तो उसका कोई जवाब नहीं दिया परन्तु जब वह बहुत पीछे पड़ा तो बोले कि कल प्रातःकाल आना और जब वह प्रातःकाल आया तो बोले कि चलो पहले नदी में स्नान कर आयें । उसके बाद परमात्मा का दर्शन करना । जब दोनों नदी में नहा रहे थे तो महात्मा ने उसकी गर्दन पकड़ कर उसे पानी में डुबो दिया ।

उस समय जब वह बहुत छटपटाने लगा तब उसको छोड़ दिया । वह फौरन बाहर आया, सांस ली और शान्त हुआ । तो महात्मा ने कहा कि देखो परमात्मा के दर्शन इसलिये नहीं होते कि जैसी तुमको अन्दर डुबकी लगाते वक्त सांस लेने की इच्छा थी, छटपटाहट थी वह स्थिति तुम्हारे अन्दर परमात्मा के लिये हो जायेगी, उस दिन तुम उनके दर्शन कर सकोगे । हम वैसा भाव नहीं लाते । हंम तो यह सोचते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं वह ठीक है । संसार को हम जैसे पकड़े हुये हैं वैसे ही पकड़े रहें । हमारी इच्छाएँ पूर्ण होती रहें और परमात्मा भी साथ में मिल जाय । यह दोनों काम नहीं हो सकते । दूसरी जो कमी है वह हमारे भाव की है । हम जब साधन करने बैठते हैं, प्रार्थना गाते हैं तो हम में से कितने हैं जो सचमुच यह सोचते हैं कि गुरु हमारे सामने साक्षात् हैं, वह प्रार्थना हम केवल उन्हीं को सुना रहे हैं किसी और को नहीं । यह श्रद्धा, विश्वास और भाव जब तक पैदा नहीं होगा तब तक मन शान्त नहीं होगा । हम तो मन्त्र की तरह प्रार्थना गा देते हैं । असली कर्म तो यह है कि हम ऐसा भाव बनायें जो श्रद्धा और विश्वास के आधार पर हो । परमात्मा या गुरु साक्षात् हमारे सामने हैं और यह प्रार्थना हम उन्हीं के चरणों में रख रहे हैं । जिस दिन यह भाव बन जायेगा आपका मन शान्त हो जाएगा । आप पूरी प्रार्थना भी नहीं कर पायेंगे और उसमें लीन हो जायेंगे । जब तक भाव नहीं बनता तब तक मनोमय कोश का जो प्रथम दर्शन है वह भी नहीं होता । क्योंकि जब भाव बहुत तीव्र होता है तब उसी समय वह साकार बन के हमारे सामने आता है और परमात्मा का जो नकली दर्शन हैं वह उसी के द्वारा होता है । निराकार को, सामने एक अनुभूति होती है । साकार को तो बिल्कुल साकार ही दिखाई देते हैं लेकिन यह भाव की तीव्रता पर निर्भर करता है और जब तक प्रार्थना करते समय हमारा भाव ऐसा नहीं बनेगा तब तक यह कार्य नहीं होगा । तीसरी कमी जिसके कारण मन नहीं लगता, मन शान्त नहीं होता, वह यह है कि हमारा साधन द्रष्टा साधन है । और द्रष्टा

साधन में प्रथम तो मन शान्त होता है, हम देखते हैं कि गुरु की शक्ति हमारे अन्दर जा रही है कुछ आनन्द भी आता है, लेकिन जो दूसरी स्थिति है जो स्वप्न के समान है जहाँ सफाई हो रही है वहाँ पर मन फिर चंचल दिखाई देता है और यहाँ आप एक गलती करते हैं द्रष्टा की जगह कर्ता बन जाते हैं। मन से युद्ध करने लगते हैं इन भाव विचारों को हटा देते हैं। मगर यहाँ पर हम द्रष्टा ही रहें, कर्ता गुरु को मान लें, यह सोचें कि यह सारे विचार गुरु की तरफ से ही आ रहे हैं तो धीरे-धीरे मन शान्त हो जाता है। तो वही तीन चीजें हैं जिनके कारण हम अपना लक्ष्य प्राप्त करने में असफल हो जाते हैं। मैं तो यही प्रार्थना करूँगा कि आप सब ऐसी कोशिश करें कि ऐसे भाव जाग्रत हों ताकि मन शान्त हो।

**

आन्तरिक सफाई का क्रम

जैसा आपने अभी सुना मनुष्य का स्वभाव है कि शान्ति और आनन्द प्राप्त करे और उसके सारे कार्य इसी के लिए होते हैं। इसीलिए हम सारे कर्म करते हैं। उनमें से एक कर्म है कि जिसमें कि हम अपने शरीर की सफाई करते हैं, उसको निर्मल बनाते हैं, वह है हाथ पैर धोना, स्नान करना इत्यादि। इससे जो शरीर के ऊपर गन्दगी होती है उसको हम दूर करते हैं। शरीर के अन्दर जो गन्दगी होती है उसको दो प्रकार से दूर करते हैं। एक तो जल पीकर दूसरा शौच द्वारा। जल पीने से भी हमारे खून में जो गन्दगी है वह बाहर निकल जाती है। इसी प्रकार शौच जाने से भी हमारे शरीर से गन्दगी बाहर जाती है। अभी जैसा कि भाई साहब ने बताया था कि योग के आठ अंग हैं उसमें दूसरा अंग नियम है, नियम में भी पाँच बातें बताई हैं जिन्हें शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान कहते हैं। शौच का मतलब मल को शरीर से बाहर निकालना नहीं। शौच का मतलब है कि निर्मलता प्राप्त करो और वह शौच दो प्रकार का होता है। एक बाह्य दूसरा आन्तरिक। बाह्य शौच के बारे में तो अभी मैंने बताया कि स्नान करना, हाथ पैर धोना, धुले कपड़े पहनना यह सब वाह्य शौच में आता है और आन्तरिक शौच के लिए हमको साधना करनी पड़ती है। जैसा मैं कह रहा था इस स्थूल शरीर को निर्मल बनाने के लिये और शौच करने के लिए हम तीन कार्य तो करते हैं। पानी पीते हैं, मल त्यागते हैं, स्नान करते हैं परन्तु उसके आगे नहीं करते। मनुष्य के तीन शरीर बताते हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण। (Physical body, Astral body और Casual body), मुसलमानों में भी इनको तीन नाम दिये गये

हैं। यह तीन शरीर हर मनुष्य के होते हैं, प्रथम शरीर है स्थूल (Physical body) । आप देखिए आपके शरीर में कहीं गन्दगी आती है तो आप बीमार पड़ते हैं, दवा खाते हैं और अगर हम शरीर को हमेशा हृष्ट-पुष्ट रखना चाहें, निर्मल रखना चाहें, तो हठ योग की क्रिया नेति, धोती की क्रियायें करनी पड़ती हैं तो इससे आगे अगर हम बढ़ना चाहें तो क्या करें ? देखिये तीनों शरीर जो मनुष्य के होते हैं वह अलग-अलग नहीं होते । तीनों आपस में जुड़े रहते हैं फिर जो स्थूल शरीर है वह सूक्ष्म शरीर से जुड़ा रहता है, तो स्थूल शरीर को आगे निर्मल करने के लिए इन्द्रियों को भी निर्मल बनाना पड़ेगा। इन्द्रियों को निर्मल बनाने की क्रिया इन्द्रियों के द्वारा होती है, मन सहायता देता है और वह क्रियायें सब कर्म योग के नाम से जानी जाती हैं जैसे हम जाप करें, कीर्तन करें, भजन गायें, रामायण पढ़ें, गीता पढ़ें, कुरान पढ़ें इसमें इन्द्रियाँ कार्य करती हैं मन सहायता देता है । लेकिन इसके द्वारा इतनी ही निर्मलता प्राप्त होती है जैसे कि पत्थर को पानी में आप डाल दें । जितनी देर पानी में पड़ा रहेगा वह भीगा भी रहेगा और ठण्डा भी रहेगा परन्तु आप उसको बाहर निकाल लें तो धीरे-धीरे वह सूख भी जायेगा और अगर गर्म मौसम है तो गर्म भी हो जायेगा । इसी प्रकार जब हम मन्दिर में होते हैं किसी सत्संग में लगे होते हैं -- रामायण पढ़ रहे होते हैं, हमारा मन शान्त रहता है, इन्द्रियाँ भी शान्त रहती हैं परन्तु जैसे ही वह कार्य पूरा होता है हम फिर संसार में लौट आते हैं। सारे काम वैसे ही करते हैं, अशान्त हो जाते हैं ।

तो यह सारे कार्य स्थूल शरीर को साफ करने के लिए होते हैं थोड़ा-थोड़ा उनका असर मन पर भी पड़ता है । इससे आगे बहुत कम लोग चल पाते हैं । क्योंकि हमको पता ही नहीं है कि हमारे तीन शरीर हैं । अगर हम शान्ति और आनन्द चाहते हैं तो तीनों को निर्मल बनाना होगा । इससे आगे चलने पर इन्द्रियाँ शान्त हो जायेंगी और सूक्ष्म शरीर को निर्मल बनाने की क्रिया प्रारम्भ होती है । इस

शरीर को निर्मल बनाने की क्रिया को उपासना का नाम दिया है । यह उपासना निराकार ब्रह्म की भी होती है, साकार की भी होती है । जब यह साकार होती है तो उसको भक्ति कहते हैं -- निराकार की होती है तो केवल उपासना कहलाती है । यहाँ पर मुख्य कर्त्ता मन होता है, बुद्धि इस कार्य में सहायता देती है । यह जो क्रिया आपने अभी की वह उपासना की क्रिया थी । इससे हमारा मन निर्मल होता है, हमारा सूक्ष्म शरीर निर्मल बनता है । इसमें जैसे अभी आपने सुना हम गुरु का प्रकाश लेकर, परमात्मा का प्रकाश अपने हृदय में ले जाते हैं और अपने अन्तर को उससे साफ करते हैं लेकिन इसमें हर साधक के ऊपर तीन स्थिति आती हैं, प्रथम स्थिति तो वह होती है जब वह उस शक्ति को अपने अन्दर देखता है, उसमें अपने को लय करने की कोशिश करता है तो एक समय उसका मन शान्त होने लगता है । इस समय उसको आनन्द का अनुभव होता है, लेकिन जब मन शान्त हो जाता है तो वह शक्ति दूसरा कार्य प्रारम्भ करती है वह है मन की सफाई करना, सूक्ष्म शरीर की सफाई करना । सूक्ष्म शरीर में जो गन्दगी होती है वह हमारे कर्मों के फल हैं, उनके संस्कार हैं । तो इन संस्कारों की जब सफाई होगी तो हमारी गन्दगी भी दिखाई देगी । अगर आपको कोई कमरा साफ करने को कहें तो वह गन्दगी जो उसमें नहीं दिखायी दे रही थी, धूल इत्यादि अब दिखने लगती है । उसी प्रकार हमारी साधना में पहले आनन्द आता है, मन शान्त होता है लेकिन बाद में विचारों की गन्दगी दिखाई देने लगती है । ऐसा लगता है कि मन फिर चलायमान हो गया । उसके सामने तो जैसे स्वप्न में दृश्य आते हैं, वैसे विचार आते चले जाते हैं । तो यह मन की निर्मलता का संकेत है । यहाँ पर मन की असली सफाई शुरू होती है । सूक्ष्म शरीर को निर्मल बनाने का कार्य प्रारम्भ होता है और यह कार्य जब समाप्त हो जायेगा तभी जाके मन शान्त और निर्मल बनेगा । यह समय लेता है क्योंकि हमारे जन्म जन्मान्तर के जो संस्कार हैं वह सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित रहते हैं तो उसको निर्मल बनाने

के लिए हमें समय की आवश्यकता पड़ती है । जिनका पूर्व संस्कारों के कारण मन अधिक निर्मल होता है, वह कुछ महीनों में ही इस कार्य को पूरा कर लेते हैं । वरना वर्षों लग जाते हैं और यह ऐसी स्थिति होती है जैसे निद्रा के पूर्व स्वप्न की स्थिति । इसके बाद ही जाकर मन स्थिर, शान्त और निर्मल होता है । इसके बाद तीसरे शरीर का नम्बर आयेगा । वहाँ पर केवल बुद्धि, कार्य करती है । साधना प्रथम दो शरीर को साफ करने के लिए होती है । मन को जब स्थिर कर लेते हैं, निर्मल हो जाता है तो साधक की साधना समाप्त हो जाती है । बुद्धि अपने आप परमात्मा का ज्ञान अर्जित करती जाती है लेकिन जहाँ ज्ञान होता है वहाँ अहंकार अवश्य आता है और अहंकार बुद्धि को निर्मल बनाने में सबसे बड़ी रुकावट है । उसको अगर हम निर्मल बनाना चाहते हैं तो इस अहंकार को गुरु के चरणों में समर्पित करना होगा और तभी जाकर यह तीसरा शरीर जो कारण शरीर है वह निर्मल बन सकेगा । जब तीनों शरीर निर्मल हो जाते हैं तभी असली सुख और शान्ति प्राप्त होती है । यही कार्य नव दुर्गा में होता है । आप सब जानते हैं कि प्रकृति तीन गुणों से बनी है । वह है सत्, रज और तम् । जब परमात्मा से शक्ति की धार उतरी तो संसार में जो सेन्टर उसने पहले बनाया वह तुम से मिलकर बना । प्रथम सेन्टर में शक्ति की धार इतनी तेज थी कि मनुष्य उसकी तरफ देख नहीं पाता था । चकाचौंध रहती थी इंसीलिए इस शक्ति का नाम काली पड़ा । इसी को महाकाली कहते हैं । इसके बाद जब दूसरा सेन्टर बना वहाँ से शक्ति नीचे आयी तो दूसरा सेन्टर महालक्ष्मी का बना । वहाँ पर श्वेत रंग का प्रकाश दिखाई देता था सुनहरी श्वेत रंग का । तीसरा सेन्टर सत् के साथ, गायत्री, सरस्वती या सावित्री नाम से बना । यह तीनों सेन्टर बन गये तो इन तीनों शक्तियों ने अपने साथ एक-एक पुरुष लिया वह था शिव, विष्णु और ब्रह्मा और संसार का कार्य चलाने के लिए तीनों शक्तियों ने अपनी थोड़ी-थोड़ी शक्ति देकर एक और शक्ति का सेन्टर बनाया उसको दुर्गा

कहा । नव दुर्गा वह शक्ति है जो दुर्ग को यानि संसार को चलाती है । नव दुर्गा में उसी शक्ति से हम अपने तीनों शरीरों को निर्मल बनाते हैं ।

शरीर में प्रकृति का प्रभाव दूर करने के लिए तीन दिन की आवश्यकता होती है । एक दिन में सत का प्रभाव, एक दिन में रज का प्रभाव, एक दिन में तम् का प्रभाव -- तो तीन शरीर होने के कारण, तीन गुणों का प्रभाव दूर करने में नौ दिन लगते हैं इसीलिए इसको नव दुर्गा कहते हैं । परन्तु यहाँ पर एक बात और भी समझने की है कि जब मन स्थिर और शान्त हो जाता है तब हमारे अन्दर एक आवाज आती है, कि माँ बलि चाहती है, जब मन शान्त होता है तो हृदय के चिदाकाश में एक कम्पन होतां है, उसको आकाशवाणी कहते हैं । उसी में यह आवाज लगती है कि माँ बलि माँगती है तो जो सकाम भक्ति कर रहे थे, जो अपनी इच्छायें लेकर भक्ति कर रहे थे, उन्होंने कहा कि माँ को बलि चढ़ाने के लिए किसी दूसरे को पकड़ कर बलि चढ़ा दी लेकिन जो अधिक भावुक थे उन्होंने अपनी ही बलि चढ़ा दी । लेकिन यहाँ दोनों ही शक्ति तो प्राप्त किये किन्तु भूल कर गये कि माँ कभी अपने पुत्रों की बलि नहीं चाहती । जिस चीज की बलि चढ़ानी थी वह तो अपना अहंकार था । जिस दिन अहंकार की बलि चढ़ जाती है उसी दिन माँ का दर्शन प्राप्त हो जाता है । उसी दिन हमारे तीनों शरीर निर्मल हो जाते हैं । यह जो साधना आपने की वह इसी कार्य को पूर्ण करती है ।

**

केवल गुरु कृपा

आप सब जानते हैं कि भगवान कृष्ण ने विराट् रूप में अर्जुन को दर्शन कराये थे, लेकिन ऐसा नहीं है कि भगवान कृष्ण ने केवल अर्जुन को महाभारत के समय विराट् रूप का दर्शन कराया था। उन्होंने अपने जीवन काल में चार बार लोगों को विराट् रूप दिखाया। प्रथम बार तो उस समय दिखाया जब माँ यशोदा ने उनको कहा कि तुमने मिट्टी खाई है मुख खोल कर दिखाओ। दूसरी बार उन्होंने विराट् रूप का दर्शन उस समय दिखाया जब वह संधि का प्रस्ताव लेकर कौरवों की सभा में गये। तीसरी बार अर्जुन को महाभारत युद्ध के समय विराट् रूप दिखाया और चौथी बार भीष्म पितामह को, शरशय्या पर जब वह लेटे थे और पाण्डव उनसे ज्ञान प्राप्त करने गये थे उस समय दिखाया। लेकिन अगर आप गौर से देखें तो यह विराट् रूप दो प्रकार के थे। एक सौम्य, दूसरा विकराल। माँ यशोदा को जो रूप दिखाया था वह सौम्य था। प्रेम से भरा था। यही बात अन्त में जब भीष्म पितामह को भी सौम्य रूप से ही दिखाया था। परन्तु कौरवों की सभा में और युद्ध में जो रूप दिखाया था वह विकराल था, भयंकर था। यहाँ तक कि अर्जुन ने भी कहा था कि भगवन् यह रूप आपका देखकर मुझे डर लग रहा है इसे आप समेटिये। इन विराट् रूपों के बारे में एक बात और समझने की है कि यह रूप केवल उनको दिखाई दिये जिनको भगवान कृष्ण ने दिव्य दृष्टि प्रदान की। वह सब पुराने संस्कारी पुरुष थे जैसे भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, विदुर आदि। इन तीन चार लोगों ने ही केवल कौरवों की सभा में भगवान कृष्ण के विराट् रूप का दर्शन किया। और अर्जुन तो वैसे भी

नर का अवतार था, संस्कारी था । तो जिन-जिन को भगवान कृष्ण ने दिव्य दृष्टि प्रदान की वह दर्शन कर सके। एक बात अब सोचने की है कि एक तो भगवान कृष्ण के दो विराट् रूप क्यों दिखाई दिये दूसरे दिव्य दृष्टि कैसे प्राप्त की जाये ? इसके लिये रामायण में श्री तुलसीदास जी ने लिखा है कि "श्री गुरु पद नख मनि गन जोती सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती" यानी गुरु के चरणों के नाखूनों से जो प्रकाश निकल रहा है उसके सुमिरन से ही दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है । इस बात को थोड़ा समझने की कोशिश करें। गुरु की आत्मा का प्रकाश चार स्थानों से निकलता है। प्रथम आज्ञा चक्र से, दूसरा हृदय से, तीसरा हाथ की अंगुलियों से और चौथा चरणों के नाखूनों से । लेकिन जो पहले तीन स्थान हैं उनसे प्रकाश तभी प्राप्त होगा जब गुरु चाहें या कोई सन्त चाहे लेकिन चरणों के नाखूनों से जो धारा बहती है वह हमेशा बहती रहती है उस पर किसी का कन्ट्रोल नहीं होता । इसलिए हमारे यहाँ पैर छूने का रिवाज है । किन्तु यह बात समझनी चाहिये कि जो प्रकाश आज्ञा चक्र और हृदय से निकलता है वह धारा गहरी होती है । अब सोचने की बात है कि सुमिरन क्या होता है, इस प्रकाश का सुमिरन कैसे किया जाय और गुरु के हृदय का प्रकाश क्यों धारण किया जाय। यह एक उदाहरण से समझें । आजकल आप सबको पता ही होगा कि सौर ऊर्जा के सोलर कुकर बहुत पॉपुलर हो रहे हैं । उसमें दो भाग होते हैं । एक तो दर्पण होता है जिस पर सूर्य का प्रकाश पड़ कर दूसरी दिशा में जाता है और वहाँ कुछ काले बर्तन रखे रहते हैं जिनमें हम भोजन इत्यादि रख देते हैं उसमें पक जाता है। लेकिन इन दोनों के गुण अलग-अलग होने चाहिये । आदर्श कुकर वह होगा जिसके इन दोनों में कुछ गुण हों जैसे दर्पण में एक गुण होता है कि जो सूर्य का प्रकाश उस पर पड़े उसे बिना कुछ तक्सीम किये ही दूसरे बर्तन पर फेंक दे । दर्पण पूर्ण निर्मल होना चाहिये अगर उसमें एक भी काला धब्बा है तो सूर्य से पड़ने वाले प्रकाश

में और उससे निकलने वाले प्रकाश में अन्तर आ जाता है । इसी प्रकार गुरु वही हो सकता है जिसका हृदय पूर्ण रूप से निर्मल हो और वही परमात्मा की शक्ति अपने में लेकर शिष्य के ऊपर फेंक सकता है । उसमें गुरु की शक्ति में से निकलने वाले प्रकाश में और परमात्मा से आने वाले प्रकाश में कोई अन्तर नहीं होगा । ऐसा दिव्य पुरुष हो तभी यह कार्य हो सकता है । दूसरी बात उस दर्पण के लिये मुख्य बात है कि उसका मुख हमेशा सूर्य की ओर रहना चाहिये । उसको हम घुमाते रहते हैं जिससे दर्पण हमेशा सूर्य के सामने रहे तभी कुकर का काम ठीक चलता है । इसी प्रकार सन्त या गुरु वह होते हैं जो हर समय अपनी सुरति की धार परमात्मा या अपने गुरु से मिलाके रखते हैं -- वही पुरुष इस कार्य को कर सकता है । तो दो गुण हो गये, एक तो उसकी सुरति की धार हमेशा अपने गुरु या परमात्मा से मिली रहनी चाहिये, दूसरी उसका हृदय पूर्ण रूप से निर्मल रहना चाहिये । उसके प्रकाश से हम जो ध्यान करेंगे उससे हमको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जायेगी परन्तु सुमिरन के लिये हमको कुकर के दूसरे हिस्से के कुछ गुण लेने पड़ेंगे । आप सब देखे होंगे कि खाना पकाने के जो डिब्बे हैं उन पर काला रंग पोत देते हैं । काले रंग को पोतने से क्या होता है कि उस पर जो प्रकाश पड़ता है वह उसको पूर्ण रूप से ग्रहण कर लेता है और यदि वह बर्तन किसी भी कारण से हिल रहा हो तो वह ग्रहण की क्रिया नहीं होती । इसी तरह से जब साधक का मन बिल्कुल शान्त और उसका मुख गुरु की तरफ हो यानी उससे निकलने वाले प्रकाश को ग्रहण कर रहा हो तभी उसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो सकती है । यह जो साधना आपने की इसी कार्य की थी । आपने सुना, गुरु को सामने पहले बिठा लिया फिर उससे प्रकाश अपने हृदय में ले जाते हैं । लेकिन जब प्रकाश को हम अन्दर से देखने लगते हैं तो बाहर के गुरु के रूप को भूल जाते हैं और फिर धीरे-धीरे अपने को उस प्रकाश में लय करने की कोशिश करते

हैं। जिस समय हम प्रकाश में लय हो जायेंगे, हमारे अन्दर कोई विचार नहीं रहेगा । हम बिल्कुल शान्त हो जायेंगे। वही सुमिरन की स्थिति है । उसी को महर्षि पतञ्जलि ने "योगश्चितवृत्तिनिरोधः" कहा और इसी से हमको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो सकती है । अब विराट् रूप की जो दूसरी बात थी कि दो रूप क्यों दिखाई दिये उसको भी समझिये । यह प्रकृति का गुण है कि यहाँ पर हर चीज के दो विपरीत गुण दिखाई देते हैं जैसे प्रकाश को लीजिये तो इस सदी के प्रारम्भ में प्रकाश के वैज्ञानिक केवल तरंग प्रकृति मानते थे परन्तु कुछ ही समय बाद आइनस्टाइन ने कहा कि कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो प्रकाश को प्रकृति का अमर कण समझे जा सकते हैं और उस समय से प्रकाश में दोनों गुण आ गये। कण प्रकृति और तरंग प्रकृति यानि साकार भी और निराकार भी । इसी के आगे चलकर ब्रेबली ने यह बताया कि कण जैसे इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन, में भी कण के अलावा तरंग प्रकृति जुड़ी हुई है । यानि सभी में द्वन्द्व है । जहाँ भी प्रकृति है वहाँ हमको हर चीज के दो रूप दिखाई देते हैं । जैसे सिक्के के हैड और टेल। जब प्रकृति का चश्मा पहन कर मनुष्य परमात्मा का चिन्तन करता है तो वह परमात्मा जो कण-कण में व्याप्त है, वह केवल निर्गुण हो सकता है परन्तु जब उस प्रकृति के अन्दर रह कर हम उसको देखने की, समझने की कोशिश करते हैं तो उसका एक विपरीत रूप और दिखाई देता है । जब सगुण परमात्मा को पकड़ने की कोशिश की तो उसके दो रूप दिखाई दिये : साकार और निराकार। यही कारण है कि हमको हर जगह भ्रम हो जाता है । सच में दोनों एक ही चीज के दो रूप हैं चाहे साकार लें या निराकार लें। साकार में भी अगर भगवान शिव को आप देखें तो शिव और रुद्र उनके दो विपरीत रूप नजर आते हैं । इसीलिए कृष्ण ने जब विराट् रूप दिखाया तो वह भी दो रूपों में नजर आया । एक सौम्य दूसरा विकराल । यही बात प्रकृति के हर चीज में है । यहाँ सब चीज दो विपरीत

भावों के जोड़े से बनी हुई है : सुख-दुःख, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, ज्ञान-अज्ञान इत्यादि । अब इन दोनों में से एक को लें, जैसे राग और द्वेष । राग वह होता है जब हम किसी चीज का विचार करें तो हमको सुख प्राप्त हो । उस चीज से हमको प्रेम हो जाता है, लगाव हो जाता है । इसी को राग कहते हैं । अगर किसी चीज के विचार से हमको दुःख हो तो उससे हमको द्वेष हो जाता है । चीज एक ही थी कि हमने विचार किया उससे अगर सुख हुआ तो राग हो गया दुःख हुआ तो द्वेष हो गया और इसीलिए इन दोनों से ही भगवान की प्राप्ति हो सकती है । रावण आदि ने भगवान की द्वेष के द्वारा ही प्राप्ति की लेकिन वह ऐसा द्वेष था कि हर समय सोते-जागते भगवान का ध्यान रहता था, इसी तरह से जिस चीज से हमको राग हो जाता है उसकी याद हमको हमेशा आती रहती है । अगर हम उस संसारि वस्तु के राग को यानी चिन्तन को भगवान के प्रेम में बदल दें तो हमको भगवान प्राप्त हो सकते हैं । हमारे शास्त्र ऐसा कहते हैं कि राग भगवान के प्रेम यानी अनुराग में सीधा नहीं बदलता । बीच की एक कड़ी और है जिसे वैराग्य कहते हैं । यानि संसार की वस्तुओं से अपना लगाव छोड़ना ही वैराग्य कहलाता है । वैराग्य यह नहीं है कि आप संसार छोड़कर जंगल में चले जायें । वैराग्य का यह मतलब गुरु महाराज बताते थे कि जहाँ मेरा का सम्बन्ध है वहाँ उसको तेरा के सम्बन्ध में बदल दो । जो कुछ अपना है, मकान है, स्त्री है, धन है, वह सब अपने गुरु का समझो उनका भोग ऐसे ही करो जैसे उनका है, वह वैराग्य कहलाता है और जितना वैराग्य होगा उतना ही हमारे हृदय में अनुराग यानि भगवान का प्रेम बढ़ता चला जायेगा । और अनुराग का मतलब यह है कि उसकी याद हमको हमेशा आती रहे । इसीलिये सन्त मत में जो साधन है वह चिन्तन कहलाता है । चिन्तन का मतलब यही है कि याद करते रहें अपने इष्ट या गुरु को । सूफियों ने भी इसी को मुख्य साधन बताया है । गुरु महाराज ने इसीलिए हमको

यह दोनों चीजें करने की आज्ञा दी थी । सुबह शाम तो ध्यान करने के लिये बताया था जिससे कि उनके प्रकाश का सुमिरन हो सके और जब भी खाली समय मिले तो उठते-बैठते खाना खाते समय गुरु का चिन्तन करते रहें और फिर धीरे-धीरे समय बढ़ाने की कोशिश करें । जब यह दोनों चीजें साथ चलेंगी तभी हम उस परमात्मा में लय हो सकेंगे ।

ऐसे पिता को हम क्या भेंट कर सकते हैं यह नैवेद्य रखा है गुरु महाराज का ही दिया है । दो मिनट आँख बन्द कर उनसे यह प्रार्थना करें कि हमको ऐसी शक्ति प्रदान करें कि उनका सुमिरन कर सकें ।

**

मन का मौन

कल रात को आपने तप के बारे में बहुत सी बातें सुनीं। अब कुछ और बातें तप के बारे में हैं जिन पर विचार करना है। तप दो प्रकार का होता है एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। शारीरिक तप से इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं और मानसिक तप से मन शान्त होता है, निर्मल भी होता है। इसके बारे में एक प्राचीन कथा है भगवान महावीर एक बार अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि राजा बिन्दुसार पानी में एक पैर से खड़े होकर तपस्या कर रहे हैं तो एक शिष्य को जो उनके साथ था जिज्ञासा हुई। उसने भगवान महावीर से पूछा कि भगवन्! राजा बिन्दुसार बहुत समय से एक पैर से खड़े होकर पानी में तपस्या कर रहे हैं, यदि देव योग से इनको इस समय मृत्यु प्राप्त हो जाय तो इनकी क्या गति प्राप्त होगी ? महावीर स्वामी ने कहा कि यदि इस समय मृत्यु हो तो यह घोर नर्क में जायेंगे। बात आई गई हो गई। महावीर स्वामी आगे चले गये और कई साल बाद उसी मार्ग से वापस आ रहे थे तो देखा बिन्दुसार अब भी तपस्या कर रहे हैं और उसी साधक ने महावीर स्वामी से वही प्रश्न किया तो महावीर स्वामी बोले कि इस समय यदि इनकी मृत्यु हो तो यह सबसे ऊपर वाले लोक में जायेंगे। जैसा स्वाभाविक था उस साधक ने पूछा कि भगवन् यह क्या बात हुई कि पिछली बार आपने कहा था कि यह घोर नरक में जायेंगे आज आप कह रहे हैं कि यह सबसे ऊँचे लोक में जायेंगे। तो महावीर स्वामी ने कहा कि देखो तपस्या इन्द्रियाँ और मन को निर्मल करने के लिए

होती हैं । जिस समय हम पहले यहाँ से निकले थे यह शारीरिक तपस्या तो कर रहे थे किन्तु इनका मन निर्मल नहीं था । यह अपने दुश्मनों से लड़ रहा था । किसी को मार रहा था, किसी को दुःख दे रहा था परन्तु अब तपस्या करते-करते इनका मन निर्मल हो गया है । इस समय इनके मन से किसी के लिए राग द्वेष नहीं है, वह शान्त भी है । इसलिए यह ऊँचे लोक में जायेंगे । सच बात यही है कि तपस्या से यह प्राप्त होता है । हमारे कार्य में ऋषियों ने गृहस्थों के लिए यह तपस्या जीवन का एक अंग बना दीं । ऐसी ही एक तपस्या है व्रत रखना । गुरु महाराज कहते थे कि व्रत रखने का मतलब यह नहीं है कि उस दिन आप केवल खाना न खायें और सब कुछ करते हैं । व्रत का मतलब यह था कि मैंने यह व्रत लिया, कसम खाई कि आज में चौबीस घण्टे साधना में लगा रहूँगा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये । कालान्तर में इस व्रत के उद्देश्य को तो हम भूल गये । केवल जो बाहरी चीज थी भोजन नहीं करना वह याद रह गया । अगर हम शास्त्रों का अवलोकन करें तो सबसे ऊँचा व्रत मौन व्रत बताया है । मौन भी दो प्रकार का होता है, एक तो जिह्वा से मौन दूसरा मन से मौन । जो मनुष्य ज्यादा बोलता हो अगर आप उसको कहें कि तुम आधे घण्टे चुपचाप बैठ जाओ तो उसके लिये यह सबसे बड़ी सजा होती है और इससे भी कठिन काम यह है कि उससे हम कह दें कि तुम विचार रहित होकर बैठ जाओ, मन का मौन कर लो। पहले इस मौन व्रत को करने के लिए साधक लोग एकान्त में जाकर बैठते थे और यह साधना करते थे कि धीरे-धीरे जिह्वा के मौन होने से मन के मौन पर पहुँचे । जितनी साधनायें भगवान की प्राप्ति के लिए हैं इसीलिए होती हैं कि हम अपने मन का मौन प्राप्त कर सकें क्योंकि साधना का उद्देश्य है कि हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जायें । मन स्थिर और शान्त हो जाय और हृदय निर्मल हो । मन का मौन साधना से प्राप्त होना चाहिये । वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हों । पहली बात

यह है और उसका फल यह होता है कि हृदय निर्मल होता है तभी भगवान प्राप्त होते हैं । जैसा रामायण में लिखा है "निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा" तो मन के मौन के तप से यह प्राप्त होना चाहिए । लेकिन मन का मौन दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है एक तो मन को किसी स्थूल चीज पर एकाग्र कर धीरे-धीरे शान्त कर लें । जैसे त्राटक के साधक दिवाल पर एक काला बिन्दु बना लेते हैं । उसको एकटक देखते रहते हैं और धीरे-धीरे उनका मन एकाग्र होकर विचार रहित अवस्था में पहुँच जाता है। तब इनको वह काला धब्बा भी नहीं दिखाई देता । इस प्रकार की साधना से मन का मौन तो होता है परन्तु इससे जो शक्तियाँ आती हैं वह हमें आसुरी प्रवृत्तियों की ओर ले जाती हैं । उससे हम दूसरों का बुरा करने का कर्म तो कर सकते हैं परन्तु भला करने का कर्म नहीं कर पाते । अगर हम उस परम आनन्द को प्राप्त करना चाहते हैं तो उसकी चैतन्य सत्ता का ध्यान करना पड़ता है । उसी से जो मन का मौन होगा वही हमको सच्चा आनन्द देगा। अभी जो आपने साधना की वह द्रष्टा योग कहलाता है । उससे भी मन का मौन प्राप्त होता है । वही महर्षि पतञ्जलि की निरोधावस्था है । जब हम इस द्रष्टा साधन को करते हैं तो पहले अपने गुरु या इष्ट को अपने सामने बिठा लेते हैं क्योंकि यह उपासना की क्रिया है । फिर उनके हृदय के प्रकाश को लेकर अपने हृदय में देखते हैं और बाहर वाले इष्ट या गुरु को भूल जाते हैं। इस प्रकाश पर अपने हृदय में ही ध्यान केन्द्रित करते हैं । इस ध्यान की क्रिया से मन धीरे-धीरे शान्त होने लगता है और जब मन विचार रहित होने लगता है तब उसमें एक आनन्द प्राप्त होता है । लेकिन जैसे-जैसे हम साधना में बढ़ते हैं एक दूसरी अवस्था साधना के क्रम में आती है। वह ऐसे ही होती है जैसे स्वप्न की अवस्था । हमको अनेक विचार दिखाई देने लगते हैं और साधक घबड़ा कर यह सोचने लगता है कि मेरा मन नीचे गिर

गया है, विचलित हो गया है और उससे लड़ने लगता है ताकि इन विचारों को हटाकर फिर शान्त हो। यहाँ साधक एक भूल करता है कि वह द्रष्टा न रहकर कर्त्ता बन जाता है। विचारों को हटाने में लग जाता है। द्रष्टा का काम तो यह है कि गुरु की शक्ति प्राप्त हो रही है, कर्त्ता तो गुरु ही रहना चाहिये। अगर हम ऐसा ही करें तो यह जो अवस्था स्वप्न की है वह जल्दी पार हो जाती है और तीसरी अवस्था आने लगती है जिसमें मन शान्त हो जाता है, स्थिर हो जाता है। यही है गहरी अवस्था सुमिरन की। उस तरह की अवस्था है जैसे सुषुप्ति कब आई कब चली गई। इसका हमें निद्रा में कभी भान नहीं होता किन्तु जाग कर हम यह अवश्य कहते हैं कि आज बहुत अच्छी निद्रा आई तो अगर हम द्रष्टा बने रहें तो कब हमको वह अवस्था आयेगी, जब हम विचार रहित हो जायेंगे, कब वह चली जायेगी इसका भान नहीं होगा परन्तु यह अवश्य लगता है कि आज बड़ा आनन्द आया। दूसरी बात एक और है कि पिछले पचास सालों में वैज्ञानिकों ने निद्रा पर बहुत रिसर्च की, अन्वेषण किया और उन्होंने यह पाया कि शरीर अपनी खोई शक्ति केवल सुषुप्ति में ही प्राप्त करता है। स्वप्न अवस्था में भी प्राप्त होती है और साधना में जाग्रत में भी इस तरह की अवस्था आती है। तो जब हम केवल द्रष्टा रहें तो साधना से जब हम उठेंगे हमारा शरीर हल्का होना चाहिए। अगर हमारा शरीर भारी होता है, कभी सिर भारी हो जाय कभी शरीर भारी हो जाय तो समझना चाहिए कि हम द्रष्टा नहीं रहे, अगर द्रष्टा रहेंगे तो साधना के बाद उठने पर हमको शरीर में हल्कापन महसूस होना चाहिए। तो यह द्रष्टा योग है जिससे मन का मौन प्राप्त होता है। शास्त्र ऐसा कहते हैं कि जब मन का मौन प्राप्त हो जाता है तभी परमात्मा का ज्ञान उतरने लगता है। यहाँ से अध्यात्म विद्या प्रारम्भ होती है, यहाँ तक साधना करनी पड़ती है, इससे आगे परमात्मा का आकर्षण हमको धीरे-धीरे ऊपर खींचता रहता है लेकिन द्रष्टा योग में

परम आवश्यक है कि हम यह कार्य पूर्ण श्रद्धा और विश्वास से करें इसलिए गुरु से प्रेम करना आवश्यक होता है । क्योंकि जिससे प्रेम होता है उसी पर हम श्रद्धा विश्वास कर सकते हैं । जैसा मैंने कल बताया था कि गुरु महाराज यह कहते थे हमको किसी तरह याद कर लो । उनका कहना था कि जैसा भाई साहब ने भी अभी कहा कि हमें चाहे मित्र मान लो, चाहे पिता मान लो, चाहे चाचा मान लो, चाहे भाई मान लो लेकिन याद करते रहो । ऐसे पिता को हम क्या दे सकते हैं जो कुछ है हमारे पास वह उनका ही है, जैसे बाहर गया हुआ लड़का पिता के पैसे में से ही बचा कर पिता के लिए कुछ ले आता है, तो पिता प्रसन्न होता है । उसी प्रकार यह नैवेद्य फिर दो मिनट आँख बन्द करके उन्हीं को अर्पण करें और उनसे यह प्रार्थना भी करें कि हम केवल द्रष्टा रह सकें ।

**

भाव के भूखे भगवान

उस समय दक्षिण भारत में एक राज़ा थे जिनका नाम थोंडमान था। भगवान के बहुत भक्त थे। भगवान ने एक बार उनको स्वप्न में कहा कि मेरी मूर्ति जमीन में गड़ी हुई है उसे निकाल कर स्थापित करो। राजा ने मन्त्री से कहा और मूर्ति को स्थापित कर उसकी पूजा करने लगा। उसमें पूजा के बर्तन सोने, चाँदी के थे। रोज पहले राजा पूजा करता बाद में पुजारी करते और धीरे-धीरे राजा को यह अहंकार हो गया कि मेरा जैसा भक्त भगवान का दूसरा नहीं है। यह अहंकार हर साधक में आता है। जब वह साधना करने लगता है एक समय आता है जब उसको यह अहंकार हो जाता है कि मैं भगवान का भक्त हूँ। जब उनको (राजा को) यह अहंकार हुआ तो एक दिन सोते समय उसको यह स्वप्न आया कि भगवान कह रहे हैं कि उस गाँव में एक कुम्हार रहता है, मेरी भक्ति उससे सीखो। राजा जब जागे सुबह उनको वह स्वप्न याद था। वह उसी तरफ चल दिये और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस कुम्हार के घर पर आये। पुराण में ऐसा लिखा है कि राजा उस कुम्हार के सामने पहुँचे और अपना परिचय दिया; तो कुम्हार बोला कि भगवान ने मुझे कहा था कि जिस समय राजा तोंडमान तुझसे मिलेंगे तू मेरे पास आ जायेगा। तो मेरा तो जाने का समय आ गया। वह भगवान के ध्यान में बैठ गया और उसी समय चला गया। राजा की समस्या जैसी थी वैसी ही रह गई। उन्होंने यह विचार किया कि अब मैं क्या करूँ ? मेरे प्रश्न का उत्तर तो यह दिये बिना ही चला गया तो उसकी झोंपड़ी में चले गये। देखा कि वहाँ भगवान का विग्रह रखा हुआ है। कुछ मिट्टी के तुलसी दल उनपर

चिपके हुए हैं । नीचे एक मिट्टी का लोंद पड़ा है और कुछ आधे बने हुए तुलसी दल भी पड़े हुए हैं । उनको यह सब देखकर बड़ा विचित्र लगा । वे वहीं भगवान की याद में बैठ गये और उस समय भगवान ने उनको समझाया कि देखो इस गाँव में तुलसी का पेड़ नहीं है । इसीलिए यह विचारा मिट्टी के ही तुलसी दल बनाकर मुझे भाव से अर्पित करता था । मैं तो भाव का भूखा हूँ । जो भाव से मुझे देता है वही मैं स्वीकार करता हूँ । यह जरूरी नहीं कि सोने चाँदी के बर्तन हों । इसी भाव के बारे में ऐसा कहते हैं कि जब भक्त को प्रथम दर्शन भगवान का होता है तो इस भाव के कारण ही होता है । आप सब जानते हैं कि साधक जब अध्यात्म की चढ़ाई करता है, तो उसे पाँच कोश पार करने पड़ते हैं । प्रथम कोश तो अन्नमय कोश कहलाता है । वह उसी दिन पार हो जाता है, जिस दिन साधक यह विचार करता है कि मैं भगवान से मिलूँ । दूसरा कोश प्राणमय कोश होता है; उसके लिये उसे साधना करनी पड़ती है और वह साधना ऐसी होती है जिसमें कर्म होता है । यह साधना इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होती है; मन उसमें सहायता देता है । जैसे कि हठयोग की साधनायें, आसन, प्राणायाम, मन्दिर जाना, कीर्तन करना, भजन गाना, रामायण पढ़ना, यह सारे जप इत्यादि इसी में आते हैं । जब साधक इन क्रियाओं को करके उस स्थिति में आ जाता है जब कि उसकी इन्द्रियाँ संयम में आ जाती हैं तो वह मनोमय कोश में आ जाता है । यहाँ मुख्य साधन मन के द्वारा होता है । बुद्धि उसमें सहायक होती है, अभी आपने जो क्रिया की वह इसी कोश की थी इसको उपासना की क्रिया कहते हैं । जब साधक किसी भगवान के साकार रूप को लेकर चलता है तो उसको भक्ति कहते हैं । निराकार को ले तो उसे उपासना कहते हैं । जब इस साधना को करते-करते एक समय ऐसा आता है जबकि उसके भाव के अनुसार भगवान का जो रूप लिया था उसमें उसका दिल रम जाता है । एक स्थिति आती है, जब उसकी वृत्तियाँ

संसार से सिमट कर उसी भाव में रह जाती हैं । उसी साकार रूप में या निराकार रूप में अटक जाती हैं । यहाँ जाकर उसका मन भी शान्त हो जाता है । केवल उस भगवान के रूप का ख्याल रहता है, और बुद्धि भी सब तरफ से हट के वहीं केन्द्रित हो जाती है । उस समय ऐसा होता है कि वह भाव साकार रूप बनकर साधक के सामने आ जाता है और यही भगवान का प्रथम दर्शन है । जो साधक को मनोमय कोश में होता है; लेकिन होगा तभी कि भाव इतना गहरा हो कि आप सब कुछ भूल जायें । इसी दर्शन को प्राप्त करने के लिये हमको पहले सब कुछ भूलना पड़ेगा तब वह भाव हमारा उस रूप को देखेगा । इसी दर्शन के लिए महात्मा तुलसीदासजी ने लिखा है कि "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु देखी मूरति तिन तैसी ।" क्योंकि अगर किसी निराकार रूप को आप लेकर चलेंगे तो आपको अनुभूति होगी कि भगवान आपके सामने हैं । दिखेगा कुछ भी नहीं । साकार रूप लेकर चलेंगे तो वह साकार रूप आपको सामने आ जायेगा । तो यह जो भाव लेके आप चलेंगे वह आपको प्राप्त होगा । इसको हम मनोमय कोश का प्रथम दर्शन कहते हैं । आगे जाकर फिर विज्ञानमय कोश में और आगे दो दर्शन और होते हैं ।

इस समय यह नैवेद्य रखा है दो मिनट फिर ध्यान करें, इसको गुरु महाराज को अर्पण करें और उनसे प्रार्थना करें कि हमको भी ऐसा भाव देने का कष्ट करें जिससे कि हम उनके दर्शन कर सकें ।

**

संस्कार कब नहीं बनते

महात्मा कबीरदास की एक लाइन है -- ''पत्ता टूटा डाल से ले गई पवन उड़ाय ।'' इस एक लाइन में ही उन्होंने बहुत कुछ समझा दिया । पत्ता जब डाल से टूटता है तो उसकी मृत्यु होती है और उस मृत्यु के पश्चात् उसका क्या भविष्य होगा, यह बहुत सी बातों पर निर्भर करता है । यदि उस समय पवन नहीं चल रही हो तो पत्ता पेड़ के नीचे ही गिरेगा । उसको कोई जानवर भी खा सकता है, जानवर के पैरों के तले कुचला भी जा सकता है, उसको कीड़े भी खा सकते हैं, वह सड़कर खाद भी बन सकता है । परन्तु यदि पवन चल रही हो तो वह उड़कर कहाँ जायेगा और उसका भविष्य क्या होगा, इसकी सम्भावनायें और अधिक होंगी । इसी प्रकार जब जीव संसार से विदा होता है, मृत्यु को प्राप्त होता है, तो उसका क्या होगा, यह कई बातों पर निर्भर करता है । हमारे शास्त्र कहते हैं कि यह मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करता है -- कि उंसके कर्मों के संस्कार कैसे हैं । मनुष्य योनि कर्मयोनि है । उसमें कर्म करना तो हमारी मजबूरी है और उसके कर्म का जो संस्कार बनता है वह हमारा भविष्य निर्धारित करता है ।

मृत्यु के बाद हमको कौन सी योनि मिलेगी, इसके अलावा यह भी सुनते आये हैं कि अन्तिम समय जैसी हमारी वृत्ति होती है, वैसी ही योनि मिलती है, वैसी ही हमारी गति होती है । इन दोनों बातों को समझने के लिए -- एक गुरु नानक साहब के जीवन का प्रसंग है -- नानक साहब एक दिन ऐसे ही यात्रा में चले जा रहे थे । वे एक अनाज मण्डी से गुजरे । वहाँ उनके साथ जो शिष्य थे उन्होंने

देखा कि एक बालक एक बकरे को पीट रहा है डण्डे से और वह अनाज खाने की कोशिश कर रहा है । नानक साहब को उस बकरे को पीटते देखकर हँसी आ गई तो उनके एक शिष्य को कौतूहल हुआ कि सन्त तो दूसरों के दुःख को देखकर दुःखी होते हैं । आज नानक साहब इस बकरे को पीटते देखकर हँस क्यों रहे हैं, क्योंकि वैसे भी आपने सुना होगा कि -- ''वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाने रे ।'' सन्त तो दूसरे के दुःख से दुःखी होते हैं । वर्ना उन पर कोई दुःख नहीं आ सकता । तो इस समय नानक साहब हँसे तो उस शिष्य को अवश्य ही कौतूहल हुआ । शाम को जब सत्संग हुआ तो उसने अपना प्रश्न नानक साहब के सामने रख दिया । तो नानक साहब हँसकर बोले कि जो बकरा था, वह पिछले जन्म में इसी दुकान का मालिक था । और वह जो दुकान है उसके बरामदे में बैठकर ही सारा व्यापार चलाता था । उसके पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण ही उसको बकरे की योनि मिली परन्तु मृत्यु के समय उसकी वृत्ति इसी दुकान में लगी हुई थी । इसी कारण से उसको दुकान के पास ही जन्म मिला । अब भी वह बकरा उस जगह रात में बैठकर सुख पाता है जहाँ बैठकर वह व्यापार करता था । उसको यह तो नहीं मालूम कि उसे यह सुख क्यों मिलता है । परन्तु वहाँ बैठकर उसे सन्तोष अवश्य होता है । आज उसी दुकान का अन्न खा रहा था तो उसका पुत्र उसको डण्डे से पीट रहा था । यही देखकर मुझे हँसी आ गई थी कि पुत्र पिता को डण्डे से पीट रहा है, उसी की दुकान का माल खाने के लिये । अब आगे यह सोचने की बात है कि हम ऐसा क्या करें कि जिससे कि हमको आगे सद्गति मिले । जैसा मैंने कहा सद्गति प्राप्त करने के लिये दो कार्य करने होंगे । एक तो अपनी वृत्ति अन्तिम समय भगवान या गुरु में लगी रहनी चाहिये । दूसरी जो हमने संस्कार कमा लिए उसको तो भुगतना ही पड़ेगा, लेकिन ऐसा अवश्य कर लो कि आगे से संस्कार न बने । प्रथम बात तो यह है कि अन्तिम समय हमारी वृत्ति भगवान या गुरु में ही लगी रहे ।

इसका ऐसा स्वभाव बनाना पड़ेगा कि हर समय हमारा चित्त उनमें लगा रहे । क्योंकि अगर कोई सुई भी चुभ जाती है तो हम राम-नाम लेना भूल जाते हैं । उसी दर्द में छटपटाने लगते हैं । मृत्यु के समय दो प्रकार का दुःख हमको होता है । एक तो शारीरिक कष्ट होता है दूसरा मानसिक दुःख होता है कि जो कुछ हमारा था उसको हम छोड़कर जा रहे हैं । उस समय वृत्ति गुरु में या भगवान में लगी रहे वह तभी सम्भव है कि हम अपना स्वभाव ऐसा बना लें कि -- हर समय उसी को याद रखें । इसी को चिन्तन कहते हैं । किन्तु चिन्तन ऐसा होना चाहिये कि चौबीस घण्टे हम उसी में लगे रहें दूसरी बात कि हमारे संस्कार आगे न बने, यह भी बड़ा कठिन कार्य है । इसके बारे में महात्मा कबीर साहब ने एक दूसरे भजन में कहा है "यह चादर झीनी रे झीनी ।" उसी की दो मुख्य लाईन बाद की हैं कि -- "जो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़के मैली कीन्हीं ।"

"दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीन्हि चदरिया ।"

देखिए यह चादर यह शरीर ही है और कोई भी संस्कार अगर बनेगा, चाहे अच्छा हो या बुरा हो तो वह चादर को गन्दा करेगा । अगर एक सफेद कपड़े पर हम गुलाब के इत्र के छींटे मार दें तो भी वह गन्दा हो जाता है । वो चाहे हमारे पुण्य कर्म हो, चाहे हमारे पाप कर्म हो, दोनों से चादर गन्दी होती है । इसीलिए उन्होंने कहा कि -- "जो चादर सुरनर मुनि ओढ़ी, ओढ़ के मैली कीन्हीं ।" सुर देवताओं को कहते हैं । वह हैं, जिन्होंने कभी पुण्य कर्म किये थे और उन पुण्य कर्मों के प्रताप से देवताओं की योनि प्राप्त की । मुनि वे हैं, जो इस समय पुण्य कर्म कर रहे हैं । और नर वे हैं जो पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म कर रहे हैं । तो तीनों ही उस चादर को गन्दा कर रहे हैं । तो यहाँ पर क्या बात हुई कि दास कबीर ने जतन से ओढ़ी, कि ज्यों कि त्यों धर दीन्हीं । यानि उनका कोई संस्कार बना ही नहीं । उसका उपाय केवल एक है कि आप जो

कर्म करते हैं, उसके फल से उदासीन हो जाओ । भगवान कृष्ण अर्जुन को आठवें अध्याय में यही कह रहे हैं कि तू मेरे मन में चित्त लगाकर युद्ध कर तो मृत्यु के बाद तू मुझे प्राप्त होगा । जो कर्म दूसरों का समझकर किया जाता है वह फल नहीं देता । मगर कोई (Subordinate) किसी (Officer) की आज्ञा से कोई काम करेगा तो उसका जो भी फल होगा, उस निचले (Officer) की कोई जिम्मेदारी (Responsibility) नहीं है, वह तो जो बड़ा (Officer) है उस पर मानी जायेगी । इसी तरह से इस संसार में हर कर्म करें और हम वह दूसरे की इच्छा मानकर करें जैसा कि भगवान कृष्ण ने कहा था -- "मन्मना भव" कि तू मेरे मन वाला हो जा । तो उस समय जो कर्म होगा उसके संस्कार नहीं बनेंगे । इसलिए इस संसार में रहते हुए ऐसे रहें कि -- सब कार्य भगवान का समझें, तो हमारे संस्कार नहीं बनते । लेकिन यह कार्य मुश्किल है, तो इसका एक और उपाय गुरु महाराज ने बताया है -- "कर्म तो करो परन्तु फल के साथ इच्छा न जोड़ो ।" कर्म करने के बाद जो अपनी इच्छा फल के साथ नहीं होगी तो जो कर्म का फल हमारे अनुकूल हो या प्रतिकूल हो हम एक सा ही व्यवहार करेंगे, उसको सम अवस्था में लाती है और वही जीवनमुक्ति है । इसी में संस्कार नहीं बनते । मेरे जन्म से पहले की बात है कि एक बार जिया माँ सख्त बीमार हुईं तो गुरु महाराज ने जैसा स्वाभाविक था पत्र लिखा दादा गुरु महाराज को -- कि यह बहुत बीमार है और ऐसा लगता है कि अब बचेंगी नहीं । तो दादा गुरु ने वापस उनको लिखा कि -- तुम तो अपने कर्त्तव्य-कर्म जो मरीज की सेवा है, करते जाओ । तुम्हें इससे कोई मतलब नहीं कि वह बचेंगी या नहीं । यह तो दूसरे की अमानत है वह जब चाहेगा, ले लेगा । जब तक चाहेगा तब तक रखेगा । तुम तो अपना कार्य करते रहो । सत्य बात यही है कि हम सारे कर्म कर्त्तव्य -- कर्म समझकर करते रहें, अपनी कर्त्तव्य बुद्धि न रखें, अपनी इच्छा उससे न जोड़ें तो संस्कार नहीं बनता । तो यही दो कार्य करने के हैं । इसीलिए गुरु महाराज ने हमें

दो कार्य करने को कहा था। एक अभ्यास यानी यह क्रिया पन्द्रह बीस मिनट सुबह-शाम करने के लिए कहा था। दूसरे ने कहा था कि धीरे-धीरे ऐसा अभ्यास डालो कि हर समय गुरु का चिन्तन होता रहे। इसके साधन के लिये पाँच समय निर्धारित किये थे -- सोते समय, जागते समय, भोजन करते समय और जब भी खाली समय मिले। क्योंकि खाली समय खाला की जान होती है तो खाली समय अगर गुरु का चिन्तन करते रहोगे तो हमारा स्वभाव अच्छा रहेगा। हम बुराइयों से भी बचते हैं और धीरे-धीरे उसका अभ्यास भी होता जायेगा। इस समय यह नैवेद्य रखा है, दो मिनट आँख बन्द करके इसको गुरु महाराज को अर्पण करें और उनसे यह प्रार्थना भी करें कि हमको चिन्तन करने की शक्ति दें।

**

हृदय-दर्पण निर्मल कैसे हो

अभी भाई साहब से आपने अपनी साधना की क्रिया की शास्त्रीय परिभाषा सुनी । अब थोड़ा उसके व्यावहारिक रूप पर विचार करें । जब कोई भी साधक चाहे कोई भी साधना करता हो, वह साधना प्रारम्भ करता है तो उसके पास तीन बिन्दु होते हैं । यह तीन बिन्दु -- ईश्वर, गुरु और वह स्वयं होता है । ऐसा समझ लीजिये कि त्रिकोण के तीन कोनों पर यह तीन खड़े हैं, और साधक का उद्देश्य यह होता है कि इन तीनों को आपस में लय करके एक कर दे । सन्त मत में इन्हें लय करने के लिये पहले गुरु और ईश्वर को एक करते हैं, वह गुरु और ईश्वर में भेद मिटा देते हैं । इससे त्रिकोण की जगह उनके सामने केवल एक रेखा रह जाती है जिसके एक किनारे पर गुरु होता है दूसरे पर शिष्य । साधना केवल इसलिये की जाती है कि यह दोनों मिलकर एक हो जाएँ । यह कार्य जिसमें ईश्वर और गुरु को एक करते हैं एक दिन में नहीं होता है । जैसे-जैसे साधक साधना में उन्नति करता है उसकी गुरु के ऊपर श्रद्धा, विश्वास और प्रेम बढ़ता जाता है और धीरे-धीरे वह गुरु में विशेषताएँ देखने लगता है । शुरू में तो वह केवल गुरु को एक विशेष पुरुष मानता है लेकिन कुछ समय बाद जब साधना में उन्नति कर लेता है तो वह उसको ईश्वर के समान मानने लगता है और अन्त में एक समय आता है जब उस गुरु को ही ईश्वर मानता है । दूसरी बात यह है कि साधना के द्वारा गुरु और साधक को एक कैसे करें ? आज साइंस का युग है, साइंस कहती है कि दो चीजें जो समान गुण वाली होती हैं वही मिल सकती हैं । अगर उनके गुण विपरीत हैं तो वह आपस में लय नहीं हो सकती हैं तो अगर साधक यह चाहता है कि गुरु या परमात्मा

में अपने को लय कर दे तो उसको वही गुण प्राप्त करने पड़ेंगे जो दूसरे में हैं । तभी जाकर वह लय हो पायेंगे । गुरु या परमात्मा अत्यन्त निर्मल है और यह निर्मलता आवश्यक है, कि साधक अपने अन्दर भी पैदा करे । इसीलिए साधना तीन कार्यों के लिए की जाती है -- अन्तर्मुखी वृत्तियाँ, मन स्थिर, शान्त और निर्मल हृदय । इसमें से जो पहले दो कार्य हैं वृत्तियाँ अन्तर्मुखी करना, मन स्थिर और शान्त करना यह साधना से होता है परन्तु जो हृदय निर्मल होता है वह साधना का फल होता है । जब साधक का हृदय पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है तभी वह इस लायक अपने को बना पाता है कि गुरु में अपने को एक कर दे । यहीं आकर वह कार्य होता है जिसके लिए पूज्य पण्डितजी ने कहा था, गुरु से मिलना और बात है और गुरु में मिलना और बात है । तो गुरु में साधक तभी मिल सकता है जब अपने को वैसा ही निर्मल बना दे । हमारे यहाँ की साधना जो अभी आपने की वह इसी कार्य को करती है । जैसा आपने सुना पहले हम यह धारणा या कल्पना करते हैं कि गुरु या ईश्वर साक्षात् हमारे सामने है । वह प्रकाश पुञ्ज है । वह प्रकाश हमारे अन्दर आ रहा है हमारा रोम-रोम उस प्रकाश से भर रहा है । जब गुरु के प्रकाश को हम अपने अन्दर लेने लगते हैं तो हमारी वृत्तियाँ धीरे-धीरे बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने लगती हैं और जैसे-जैसे धीरे-धीरे हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती है हमको एक बात का अनुभव होता है । जब तक मनुष्य की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं वह दूसरों के अवगुण देखता है और यह समझता है कि मेरे में तो सारे गुण ही गुण भरे हुए हैं परन्तु जब उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं तो गुरु के प्रकाश में वह अपने अन्दर में जब झाँकता है तो देखता है कि वहाँ भी बहुत अवगुण भरे हुए हैं और यही अध्यात्म का पहला कदम है कि साधक अपने अवगुण देखने लगे । यहीं के बाद उसकी निर्मलता और सफाई का काम प्रारम्भ हो जाता है । वह साधक अपने अवगुण देखेगा तभी तो उनको दूर करने की कोशिश करेगा । जब तक वह नहीं देखता तब तक अवगुण दूर करने का सवाल ही नहीं पैदा होता है ।

इसलिए हृदय की निर्मलता प्राप्त करने का पहला कदम यही है कि साधक अपने अवगुणों को देखने लगे और दूसरों के अवगुण देखना बन्द कर दे । यह कार्य धीरे-धीरे साधना में जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं पूर्ण होता चला जाता है । सच में निर्मलता तभी आती है जब साधक अपने लक्ष्य के नजदीक पहुँच जाता है । अब फिर साधना पर आयें । पहले हम जब साधना करते हैं और गुरु का प्रकाश अन्दर लेते हैं उस पर ध्यान केन्द्रित करने की कोशिश करते हैं तो धीरे-धीरे उसका मन शान्त होने लगता है और इस शान्ति में उसको आनन्द आने लगता है । परन्तु जब मन शान्त होने लगता है तो गुरु की शक्ति, प्रकाश एक दूसरा कार्य प्रारम्भ करता है, वह है उसके अन्दर जो पुराने संस्कार भरे हुए थे उनको निकालना । यहाँ पर जाकर साधक का मन फिर विचलित होने लगता है । वह देखता है कि पहले जो शान्ति और आनन्द आ रहा था वह दूर हट गया । अब तो वह हाल है कि जैसे स्वप्न देख रहे हों । एक के बाद एक विचार आता चला जा रहा है । यह कार्य भी साधक के अन्दर जो संस्कार है उनकी सफाई का कार्य है और हर साधक पर यह अवस्था अवश्य आती है । यह चाहे कुछ महीनों के लिए हो या कुछ सालों के लिए हो । जितना हम संसार में लिप्त रहेंगे उतनी ही यह अवस्था लम्बी रहेगी और अन्त में जब यह कार्य पूर्ण हो जाता है तब वह अवस्था आती है जिसके लिए निरोध शब्द का इस्तेमाल होता है जिसके लिए भाई साहब ने बताया महर्षि पतञ्जलि ने कहा था "योगश्चितवृत्तिनिरोधः" और जब साधक विचार रहित अवस्था में पहुँचता है वहाँ से उसको अध्यात्म ज्ञान प्राप्त होना प्रारम्भ होता है लेकिन होता क्या है कि जब वह स्वप्न की सी अवस्था आती है तो साधक यह सोचता है कि मैं गिर गया या यह सोचता है कि मेरी साधना तो बेकार है । मन बहुत चञ्चल है, कभी-कभी छोड़ भी बैठता है लेकिन सच में अगर देखा जाय तो जो मैंने पहले कार्य में बतलाया था कि हृदय की जो निर्मलता है वह साधना के साथ-साथ चलती है । आपको चाहिए कि आप अपना स्वाध्याय करें मन को पढ़ने की कोशिश करते रहें । देखें

कि आपके विचार दूसरों के प्रति कैसे चल रहे हैं । अगर उनमें निर्मलता आ रही है, राग-द्वेष कम हो रहा है तो समझ लीजिये कि आपकी साधना ठीक चल रही है । क्योंकि यह दोनों काम साथ-साथ चलते हैं । साधना में उन्नति और व्यवहार में निर्मलता । इसलिए व्यवहार की जो निर्मलता है वही साधना का मापदण्ड है कि वह ठीक चल रही है या नहीं चल रही । यहाँ पर साधक कुछ गलतियाँ भी करते हैं । उसके ऊपर कहना भी आवश्यक है, प्रथम गलती जो साधक से होती है वह यह होती है कि गुरु या इष्ट का रूप जो बाहर देखता है उसी विग्रह में अटक जाता है । वह उसको छोड़कर उसके प्रकाश रूप को हृदय में देखना नहीं चाहता । वह बाहर के रूप में इतना मग्न हो जाता है कि उसको छोड़ना नहीं चाहता । यह अक्सर साधक प्रारम्भ में गलती कर देता है । दूसरी गलती होती है जब मन शान्त होने लगता है और आनन्द आने लगता है तो इस आनन्द को भी साधक छोड़ना नहीं चाहता । बार-बार यही कोशिश करता है कि उसी आनन्द में बैठा रहे । लेकिन वह भूल जाता है कि अगर वह इस आनन्द को पकड़े बैठा रहे तो फिर उन्नति नहीं होगी । तीसरी गलती मैंने बता दी कि जब मन चंचल होता है स्वप्न सी अवस्था आती है, तो साधक यह सोचने लगता है कि मेरा मन गिर गया और वह कभी-कभी साधना छोड़ देता है यह भी एक गलती है । क्योंकि अगर उसका व्यवहार निर्मल हो रहा है तो उसकी साधना ठीक ही चल रही है । इसके अलावा एक गलती और होती है वह यह है कि हमारी जो ध्यान की क्रिया है वह द्रष्टा योग है । इसमें साधक केवल द्रष्टा है लेकिन जब वह देखता है कि साधना में यह विचार स्वप्न की तरह आ रहे हैं तो वह मन से कुश्ती लड़ने लगता है । वह द्रष्टा की जगह कर्त्ता बन जाता है । यहाँ पर वह अपना कर्त्तापन छोड़ता नहीं है, वह द्रष्टा नहीं रहता वह यह सोचता है कि मन यह विचार ला रहा है । सच में तो उसको यह सोचना चाहिये कि गुरु ही उसको यह सब दिखा रहा है । और अगर वह द्रष्टा

रहेगा तो धीरे-धीरे यह सब शान्त हो जायेगा तभी जाकर वह निरोध अवस्था प्राप्त होती है। परन्तु, अन्तिम अवस्था प्राप्त करने के लिए एक कार्य और करना पड़ता है जो हृदय क़ी निर्मलता के लिये भी परम आवश्यक है और वह है कि अपनी इच्छाओं को गुरु की इच्छा में मिलाना। जब तक मनुष्य संसार में लिप्त रहेगा वह इच्छाओं का दास रहेगा। और जब तक वह इच्छाओं का दास है उसका हृदय निर्मल नहीं हो सकता। उसके लिये यह परम आवश्यक है कि वह अपनी इच्छाएँ गुरु की इच्छा में मिला दें। इसके बारे में एक दृष्टान्त है कि एक गली में दो सन्त रहते थे। एक कोई सूखी रोटी लाता तभी खाने के लिये लेते अगर कोई और पकवान होता तो वापस कर देते। दूसरे सन्त थे वह जो कुछ आ जाता उसको रख लेते और खा लेते। तो एक बार उनके शिष्य ने कहा कि भगवान् यह बताइये कि वह जो सन्त हैं वह तो केवल सूखी रोटी लेते हैं परन्तु आप तो हलुआ-पूड़ी जो भी आ जाये उसको रख लेते हैं। तो उस संत ने समझाया कि वह जो संत हैं उन्होंने अपने स्वाद का त्याग किया है और वह केवल सूखी रोटी खाते हैं। मैंने अंपनी सारी भोजन के बारे में इच्छाओं का त्याग कर दिया है। उससे वैराग्य ले लिया है। गुरु जो भेजता है वह मैं खा रहा हूँ और जो नहीं भेजता है उस दिन भूखा भी रह जाता हूँ। लेकिन मुझे इससे कोई मतलब नहीं कि वह क्या भेजता है। मुझे तो उसकी इच्छाओं में रहना है कि जो वह भेजेगा वह मुझे स्वीकार होगा। तो सचमुच में हृदय निर्मल तभी होता है जब यह कार्य कर लेते हैं।

इस समय यह नैवेद्य रखा हुआ है गुरु महाराज जी की दी हुई वस्तु है -- अब दो मिनट आँखें बन्द कर इन्हें अर्पण करें और उनसे यह प्रार्थना करें कि हमें वे ऐसी शक्ति दें जिससे कि हम उनकी इच्छाओं में अपनी इच्छा मिलाने का काम पूरा कर सकें।

**

भृंगी साधन -- क्या और कैसे

अभी भाई साहब ने आपको बताया कि हमको क्या प्राप्त करना है और उसकी विस्तृत व्याख्या की । यदि इस ध्येय को हम इसी जीवन में प्राप्त करना चाहते हैं तो केवल सुबह-शाम यह ध्यान पन्द्रह-बीस मिनट करने से प्राप्त नहीं होता । इसके लिए श्री गुरु महाराज ने कुछ और बात करने के लिए भी कहा था । उन्होंने कहा था कि यदि तुम यह ध्येय इसी जीवन में प्राप्त करना चाहते हो तो जिस प्रकार मरीज को दवा के साथ परहेज बताते हैं, इसी प्रकार इस ध्यान की क्रिया के साथ कुछ कार्य और भी करने पड़ेंगे और वह कार्य है पाँच समय दिन में गुरु की याद करना । वह समय उन्होंने बताये थे कि सोते समय, सोकर उठते समय, दोनों समय जब भोजन करते हैं और जब खाली समय होता है -- यह पाँचों समय अगर हम गुरु की याद करते रहेंगे और धीरे-धीरे इस याद को बढ़ाते हुए चौबीस घन्टे ले जायें, तब यह ध्येय जल्दी प्राप्त होता है । श्री आदि शंकराचार्य ने भी यही बताया था कि सबसे सरल और जल्दी का रास्ता भृंगी साधन है, लेकिन भृंगी साधन के लिए तो गुरु पूर्ण चाहिए । मैं तो यह कह रहा हूँ कि गुरु की याद अगर पाँच समय आप करते हैं तो इस साधना में जल्दी उन्नति होती है । अब यह सोचने की बात है कि भोजन के समय दोनों वक्त गुरु महाराज ने हमको याद करने के लिए क्यों कहा ? अगर हम अपने धर्मग्रन्थ देखें, तो अन्न के बारे में दो बातें कही गई हैं । 'एक तो यह है कि अन्न ब्रह्म है और दूसरा यह कि जैसा अन्न वैसा मन' । अगर सचमुच अन्न ब्रह्म ही है तो सभी लोग अन्न खाते हैं तो वे सभी ब्रह्ममय होने चाहिए, लेकिन

देखने में ऐसा नहीं आता । अधिकतर लोग ब्रह्ममय नहीं होकर मायामय होते हैं । इसका कारण अगर देखें तो कुछ समझना पड़ेगा । आज साइंस (विज्ञान) का युग है । पिछले ५० सालों में साइंटिस्टों या वैज्ञानिकों ने यह जानने की कोशिश की कि भोजन और अपराधी प्रवृत्ति में क्या समानता है, क्या सामंजस्य है, तो उन्होंने पाया कि जब मनुष्य सात्विक भोजन करता है जैसे अन्न है, सब्जी है, दूध है, दही है तो उसका मन शान्त बनता है और यदि वह तामसी भोजन करता है जैसे मछली है, गोश्त है और दूसरी चीजें हैं तो उसमें उसका मन चंचल बनता है । अपराधी प्रवृत्ति को अधिक बढ़ाता है । इसके बाद यह रिसर्च हुई कि ऐसा क्यों होता है तो उन्होंने पाया कि जब सात्विक भोजन मनुष्य करता है तो उसका खून जो बचता है तो उसके मस्तिष्क में जो रासायनिक पदार्थ बनते हैं, एमिनो एसिड बनते हैं, वह उसको शान्त बनाते हैं । इसके विपरीत जब वह तामसिक भोजन या सामिष भोजन करता है तो खून के द्वारा जो रासायनिक पदार्थ बनते हैं वह उसको चंचल बनाते हैं । यह रासायनिक पदार्थ उससे अलग हैं । यह तो साइन्स की बात हुई कि भोजन हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करता है ।

हमारे यहाँ ऋषियों ने अपने मन की शक्ति से ही रिसर्च की थी । उन्होंने यह पता लगाया कि यह नहीं कि केवल सात्विक और तामसी भोजन ही मन को प्रभावित करते हैं । उन्होंने बताया है कि भोजन पकाने वाले के विचार और परोसने वाले के विचार भी खाने वाले के मन को प्रभावित करते हैं । इसका उदाहरण पूज्य पण्डित जी एक दृष्टान्त देते थे वह यह था कि ब्रिटिश साम्राज्य में एक युवक को फाँसी की सजा हुई, वह देश के लिए उसने कुछ किया था उसके कारण हुई थी तो जैसी परम्परा है कि जब किसी को फाँसी की सजा होती है तो उससे पूछा जाता है कि तुम्हारी अन्तिम इच्छा क्या है ? उस युवक से भी पूछा गया तो उसने कहा कि मैं गीता का प्रवचन

सुनना चाहता हूँ । उसके पिता आर्य समाज के बहुत बड़े कार्यकर्त्ता थे, बहुत विद्वान थे, तो उन आनन्द स्वामी को कहा गया कि आपका पुत्र गीता पर प्रवचन सुनना चाहता है तो उन्होंने कहा कि मैं यह कार्य कर दूँगा । वे रोज दिन में जाते और अपने पुत्र को गीता सुनाते । एक दिन जब वे जेल में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि उनका पुत्र का मुँह काला पड़ा है, अश्रुधारा बह रही है, वह बहुत ही विकल दिखाई दे रहा है तो उन्होंने कहा कि पुत्र क्या मृत्यु के भय के कारण ऐसा हो रहा है तो उस लड़के ने कहा कि पिताजी मैं मृत्यु से तो नहीं डरता परन्तु आज मैंने एक ऐसा बुरा स्वप्न देखा जो मैं कभी सोच भी नहीं सकता और उसी के कारण आज मेरी यह दशा हो रही है । पिताजी विद्वान थे, बोले कि पुत्र कल तुम्हारी दिनचर्या में क्या बातें हुई थीं यह भी बताओ और स्वप्न भी बताओ । तो पुत्र ने कहा कि रात्रि में जब मैं सो रहा था तो मैंने ऐसा देखा कि मैंने एक छुरी अपनी माता के हृदय में चुभो दी और यही मेरी विकलता का कारण है और यहाँ तक मेरी दिनचर्या का सवाल है इसी काल कोठरी में बीती थी, परन्तु एक परिवर्तन अवश्य था कि कल मुझे भोजन बड़ा स्वादिष्ट मिला । पिता जेलर के पास गये कि कल भोजन किसने बनाया था और क्या बात थी । कल उसमें फर्क कैसे आया । तो जेलर ने कहा कि हमारा जो रसोइया था वह कल छुट्टी पर था तो हमने एक कैदी से भोजन बनवाया था और इसीलिए यह सभी स्वादिष्ट था । तो आनन्द स्वामी ने पूछा कि उस कैदी को किस बात की सजा हुई थी तो जेलर ने बताया कि वह लड़का जुआरी था और वह अपने घर से पैसे ले जाकर जुआ में हार जाता था । उसके पिता की मृत्यु हो चुकी थी । विधवा माँ से छीनकर पैसे ले जाता था । एक दिन मंगलसूत्र भी अपनी माँ से माँगा तो उसने कहा वो उसके पिता की अन्तिम निशानी है, इसे मैं नहीं दूँगी तो लड़के ने गुस्से में सब्जी काटने के चाकू से उसकी हत्या कर दी । उससे आनन्द स्वामी को

पता लग गया कि क्या बात थी । तो अब देखिये कि भोजन पकाने वाले के विचार भोजन के द्वारा उस लड़के के हृदय में पहुँच गये । लेकिन यह तब होता है जब खाने वाले का मन शान्त हो । अगर उसका मन पहले से चंचल है, विचारों से भरा हुआ है तो जो अन्न के द्वारा विचार आयेंगे, उनके घुसने की जगह ही नहीं होगी तो आयेंगे कहाँ से । साधक जिसका मन शान्त हो चुका है उसी के मन पर इसका प्रभाव पड़ता है । तो अन्न ब्रह्म तभी होता है जब हम साधना के द्वारा अपने मन को शान्त करते हैं, लेकिन साधना के द्वारा अगर मन शान्त हो गया तो फिर एक और कठिनाई आती है कि अगर हमने बुरा अन्न खा लिया तो बुरे विचार भी आयेंगे । जैसे उस लड़के को आये थे । उसको मिटाने के लिए हमारे ऋषियों ने एक उपाय और बताया कि जब भी भोजन ग्रहण करो तो उसको अपने गुरु या इष्ट को अर्पण करो और उसको प्रसाद समझ कर लो तो जो उसका बुरा विचार है उसका प्रभाव मन पर नहीं पड़ेगा । इसीलिए गुरु महाराज ने हमको यह कहा था कि दोनों समय भोजन करते समय याद कर लो ।

इस समय यह नैवेद्य रखा है दो मिनट आँख बन्द करके फिर ध्यान करें और यह गुरु महाराज का जो दिया हुआ है उन्हीं को अर्पण करें उनसे यह प्रार्थना भी करें कि हमको ऐसी शक्ति दें कि हम उनकी याद चौबीस घंटे कर सकें ।

★ ओम् शम् ★

**

एके साधे सब सधै

बात बहुत प्राचीनकाल की है । एक ऋषि घनघोर जंगल में जहाँ कोई मनुष्य पहुँच नहीं सकता था जाकर एक पेड़ के नीचे बैठे और कई दिन हो गये न उन्होंने कुछ खाया न पीया तो जिस पेड़ के नीचे वह ऋषि बैठे थे उसकी कोटर में एक तोते का बच्चा था । वह बोला कि ऋषि आपने जो मार्ग अपनाया है वह गलत है । ऋषि ने देखा कि कुछ आवाज आ रही है, उन्होंने चारों तरफ नजर दौड़ाई कोई मनुष्य दिखाई नहीं दिया तो उन्होंने कहा कि यह किसकी आवाज है ? क्या कोई देव पुरुष इत्यादि आये हुए हैं ? तो उस बच्चे ने कहा कि मैं तो अधम शुक पक्षी हूँ । आप जिस पेड़ के नीचे बैठे हैं उसी की कोटर से बोल रहा हूँ । तो ऋषि ने पूछा कि तुम यह कैसे कहते हो कि मैंने यह मार्ग गलत चुना है, मैं तो अष्टांग योग की साधना करते-करते थक गया । अब यह शरीर नहीं चल रहा है तो इसको त्यागकर दूसरे शरीर में यही साधना चलाने के लिये यहाँ आकर बैठा हूँ । तो वह शुक पक्षी बोला कि आप अपने शरीर का अन्त करने की धमकी देकर आप ईश्वर पर कोई एहसान नहीं कर रहे हैं । ईश्वर के पास न तो शरीरों की कमी है न आप जैसे जीवों की । आप जो कार्य कर रहे हैं वह गलत है । आपको अगर उसको प्राप्त करना ही है तो दूसरा रास्ता चुनिये । तो ऋषि ने कहा कि मैंने तो अष्टांग योग की बहुत साधना की मेरी तो समझ में नहीं आ रहा कि मैं क्या करूँ ? तो वह शुक पक्षी बोला कि आप अपने जीवन का जो केन्द्र हृदय है, उसमें भगवान की तलाश कीजिये । उस समय आपको वे मिल जायेंगे और आपका जीवन इसी जीवन में सफल हो

जायेगा । ऋषि को बात समझ में आई क्योंकि जो शुक पक्षी था वह बोधिसत्व था जो अपने अनेक जीवन व्यतीत कर चुका था, तो जब ऋषि ने उठकर अपने को पवित्र किया और कुछ फल फूल खाकर इस क्रिया को किया तो कुछ दिनों में उनको ज्ञान प्राप्त हो गया । असल में अधिकतर लोग यही गलती करते हैं कि अष्टांग योग को पूरा नहीं समझ पाते । गुरु महाराज ने समझाया है कि अष्टांग योग तो ऐसे ही है जैसे शरीर के आठ अंग । यह नहीं कि हम एक अंग को तो भोजन दें और उसकी कसरत भी करें और उसको पुष्ट करें और बाकी अंग ऐसे ही रहें । अगर हमको अपना शरीर पुष्ट करना है तो एक ही अंग पुष्ट करना नहीं है हमें बाकी शरीर भी साथ में पुष्ट करना है । इसी प्रकार अष्टांग योग की साधना यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है वह सब साथ-साथ चलेगी । यह नहीं हो कि यम का ही हम एक हिस्सा ले लें, उसे सिद्ध करते रहें और बाकी को हम न लें । गुरु महाराज ने यही बताया था कि योग के यह आठों अंग 'अष्टांग योग' हमारी साधना से पूरे होते हैं । उदाहरण के तौर पर आप नियम का पहला हिस्सा ही लें । नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आता है, इसमें से अगर हम शौच के बारे में ही केवल सोचें तो साधारणतया हम शौच मल मूत्र त्यागने को कहते हैं परन्तु असली अर्थ शौच का है, अपने को पवित्र करना और जब हम शरीर को पवित्र करते हैं तो केवल पवित्रता बाहर तक सीमित नहीं रहती । स्नान इत्यादि से हमारे शरीर का बाहर का हिस्सा तो निर्मल हो जाता है, पवित्र हो जाता है, परन्तु अन्तर का नहीं । इसके लिये दूसरा कुछ करना पड़ता है । अगर हम इस शरीर के आन्तरिक हिस्सों को साफ करना चाहते हैं तो उसकी क्रिया दूसरी होगी । लेकिन शौच केवल इसी शरीर तक सीमित नहीं है । हर मनुष्य के तीन शरीर होते हैं : स्थूल, सूक्ष्म और कारण । यह तीनों शरीर आपस में मिले रहते हैं । हम अधिकतर यह गलती करते हैं कि

स्थूल शरीर को तो अन्दर से और बाहर से साफ करने की, पवित्र करने की क्रिया कर लेते हैं। बाकी दो शरीर छोड़ देते हैं। वे गन्दे के गन्दे रह जाते हैं। इसीलिए हम पूर्ण रूप से स्वच्छ या निर्मल नहीं होते। स्थूल शरीर को जो साफ करने की क्रियायें हैं वह बाहर से साफ करने के लिए तो स्नान आदि हैं लेकिन अन्दर से साफ करने की जो क्रियायें हैं उनको हम कर्म योग कहते हैं। इनके अलावा जो सूक्ष्म और कारण शरीर को साफ करने के लिए, पवित्र करने के लिए हमको वह साधना करनी होगी जो हमारे मन और हृदय को भी पवित्र बना दें। उस बात को समझाने के लिये पूज्य पण्डितजी के जीवन का एक उदाहरण है। बात शायद सन् १९५३-५४ की हो। आरा में सत्संग प्रोग्राम (कार्यक्रम) हो रहा था उस समय दिसम्बर का अन्त था। भयंकर सर्दी पड़ रही थी। जहाँ गुरु महाराज, पूज्य पण्डित जी और लोग ठहरे हुए थे वहाँ केवल एक नल था बाहर और वह भी खुले में। बहुत लोगों को नहाने में देर हो गई। जब गुरु महाराज प्रातः काल सत्संग में जाने के लिये निकले उस समय पण्डित जी बिना नहाये हुए थे तो गुरु महाराज जी बोले, अरे ! अभी तक स्नान नहीं कर पाये चलो कोट पहन लो। अन्तर की साधना करने के लिये बाहर का स्नान करना आवश्यक नहीं है और पण्डित जी ने जैसी आज्ञा मिली कोट पहनकर फौरन सत्संग में चले गये, परन्तु पण्डित जी की इस बात को सुनकर दूसरे लोगों पर इस बात का प्रभाव पड़ा। उन्होंने क्या किया कि दूसरे दिन देखा कि ठण्ड ज्यादा है तो कल गुरु महाराज जी ने पण्डित जी को कहा ही था तो आज नहीं नहावें। गुरु महाराज जी कमरे से जब बाहर निकले तो सबको देखकर बहुत गुस्सा हुए कि अरे लोग अभी तक नहीं नहाये, जाकर फौरन नहाओ और सत्संग का टाईम हो रहा है वहाँ चलो। सत्संग के बाद उन्होंने समझाया कि देखो अगर किसी दिन हम लोग बीमार होते हैं तो हाथ-पैर धोकर ही काम चला लेते हैं। इसी तरह से अगर कभी बाहर का स्नान नहीं कर पाये तो इसका अर्थ नहीं है

अन्तर की सफाई भी न करें, परन्तु साधारणतया हमें भीतर और बाहर दोनों की सफाई रखनी चाहिये तो यही शौच है । तो शौच के लिये जो हमारा यह स्थूल शरीर है उसको अन्तर से साफ़ करने के लिये हठयोग की क्रियायें और आसन, प्राणायाम, मन्दिर जाना, जाप करना इत्यादि सभी शामिल हैं । यह स्थूल शरीर को अन्दर से साफ करते हैं और मन पर भी उसका थोड़ा प्रभाव पड़ता है लेकिन यह मन पर जो प्रभाव इसका पड़ेगा वह ऐसे ही जैसे पानी में एक पत्थर । पानी में जब तक पत्थर पड़ा रहेगा उसकी ऊपरी सतह भीगी रहेगी परन्तु आप उसे पानी से निकाल लेंगे तो वह सूख भी जायेगा और गर्म होना शुरू हो जायेगा । इसी तरह मन्दिर जाना, जाप करना, भजन करना, गीता पढ़ना इसमें जितनी देर हम लोग रहेंगे हमारा मन भी शान्त और निर्मल होगा परन्तु जैसे ही यह कार्य समाप्त होता है फिर मन चंचल हो जाता है, सांसारिक कार्यों में लग जाता है । कर्म योग की साधना से इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं, संयम में आती हैं, शान्त होती हैं । जब यह स्थूल शरीर निर्मल हो जाय तो दूसरे सूक्ष्म शरीर को साफ करने की बारी आती है । उसके लिए जो क्रिया करनी पड़ती है उसको उपासना या भक्ति कहते हैं, यह क्रिया मन के द्वारा होती है और बुद्धि इसमें सहायता देती है । जब निराकार परमात्मा की उपासना करते हैं तो यह उपासना कहलाती है, साकार की भक्ति कहलाती है । इसके द्वारा मन शान्त होता है और निर्मल होता है और जब इन साधनों से मन निर्मल हो जाता है तो तीसरे शरीर को साफ करने की बारी आती है, वह कारण शरीर की शौच कहलाती है । इसमें केवल बुद्धि रह जाती है और वह परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके धीरे-धीरे साफ हो जाती है । इसको ज्ञान की साधना कहते हैं । जब यह तीनों शरीर निर्मल होंगे तभी हम आनन्द के सागर में गोते लगा सकते हैं, हर समय सुखी रह सकते हैं ।

अब थोड़ा अपनी साधना के बारे में सोचें कि इससे शौच किस प्रकार होता है । जैसा आपने अभी सुना यह क्रिया मन के द्वारा होती है और मन इन्द्रियों का राजा है । मन अगर शान्त हो जावे तो इन्द्रियाँ भी शान्त और निर्मल हो जायें । इंसमें सबसे पहले हम यह विचारते हैं कि परमात्मा या गुरु साक्षात् हमारे सामने बैठा है और उसका प्रकाश लेकर अपने हृदय में देखते हैं । यह द्रष्टा साधन है । जब यह प्रकाश अन्दर जाता है तो वहाँ पर पहले मन को थोड़ा स्थिर और शान्त करता है फिर मन की सफाई आरम्भ करता है । यही सूक्ष्म शरीर की शौच है । इसमें के शान्त होने के बाद जो हमारे संस्कारों के मल विक्षेप आवरण भरे हैं वे साफ होते हैं और धीरे-धीरे मन निर्मलता की ओर जाता है ।

प्रथम जब गुरु या इष्ट को बाहर बैठाते हैं तो उसी में इतना रम जाते हैं कि उसको छोड़ना नहीं चाहते । उसके प्रकाश को अन्दर देखना प्रारम्भ नहीं करते । बहुत से साधक मुझसे यह बात कह चुके हैं और यह प्रथम गलती है जो इस साधना में होती है, दूसरी गलती जो हम करते हैं वह है जब हम यह चञ्चलता मन के अन्दर देखते हैं तो हम यह समझते हैं कि हमारी तो साधना खराब हो गई, हमारी स्थिति नीचे आ गई और फिर मन से कुश्ती लड़ने लगते हैं कि यह विचार न आयें । जैसा मैंने बताया अगर मन से कुश्ती लड़ने लगेंगे तो द्रष्टा नहीं रहेंगे कर्ता हो जायेंगे, और समय अधिक लगेगा । तो जब तीनों अंग की सफाई, शौच हो जाती है तो उस समय आप देखिये आप की साधना पूरी हो जाती है, तो शौच प्रारम्भ हुई स्थूल बाहर से और समाप्त हुई वहाँ जहाँ धारणा, ध्यान, समाधि से भी आगे आप पहुँचते हैं तो हमारी साधना हमको वहीं पहुँचाती है जहाँ अन्तिम अवस्था है लेकिन समझ के करने की बात है ।

**

वृत्तियों का निरोध कैसे ?

यह मनुष्य की प्रवृत्ति है कि वह सुख और शान्ति चाहता है । वह जितने भी काम करता है चाहे वे सांसारिक हों या पारमार्थिक, इस उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए करता है । लेकिन यह समझ नहीं पाता कि सुख शान्ति कहाँ मिलेगी । यह ऐसे ही है कि यदि आपने कभी कोई अच्छी चीज खाई हो तो जैसे-जैसे समय गुजरता जाता है न तो आपको चीज़ का नाम याद रहता है और न यह याद रहता है कि कहाँ खायी थी, परन्तु यह अवश्य याद रहता है कि कभी कोई बहुत अच्छी स्वादिष्ट चीज खायी थी । इसी तरह से मनुष्य जीवन में कभी सुख और शान्ति में रहने की याद बनी रहती है और उसी को पाने के लिए वह सारे कर्म करता है, परन्तु कर्म कैसे करना चाहिये यह दूसरी बात है । भगवान ने मनुष्य को एक ग्रन्थि दी है जिसका नाम मन है । कोई भी कर्म हमको चाहे सांसारिक हो या पारमार्थिक जब मन उसमें साथ नहीं देगा तब तक वह कर्म सफल नहीं होगा । इसलिए अगर हम सुख और शान्ति चाहते हैं तो पहले मन की प्रकृति को समझने की आवश्यकता है । पहली बात जो मन के बारे में समझना है वह यह है कि मन कभी विचारों से खाली नहीं रहता है, या तो भविष्य के सपने बनाता रहंता है या भूतकाल में जो कुछ हुआ है उसके बारे में सोचता रहता है । ऐसा समय बहुत कम होता है जब वह वर्तमान में रहता है । परन्तु जब हम कर्म करते हैं तो मन को वर्तमान में रखने की परम आवश्यकता है । अगर मन कर्म करते समय वर्तमान में नहीं रहेगा और वह भविष्य के सपने बनाये या भूत के बारे में सोचेगा तो वह कार्य सफल नहीं हो सकता । हम रोज यही कहते हैं कि यह काम गड़बड़ हो गया क्योंकि ध्यान से काम नहीं किया । इसका अर्थ केवल यह हुआ कि उस समय मन

हमारा वहाँ नहीं रहा । इसलिये प्रथम आवश्यकता सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिये मन को हम ऐसा ट्रेन्ड करें कि वह कार्य करते समय केवल वर्तमान में रहे । अगर वह भूत और भविष्य में चला जायेगा तो हम पूरी क्षमता से वह कार्य नहीं कर पायेंगे और हमको सफलता में सन्देह रहेगा और अगर सफल नहीं हुए तो सुख और शान्ति कहाँ मिलेगी । दूसरी बात जो मन के बारे में है वह यह है कि वह सुख और शान्ति नहीं पाता है -- आप देखें कि अगर हमारी यह इच्छा है कि हमारा मकान बन जाय तो हम रोज उसी विचार में चिंतित रहते हैं । जिस दिन मकान बन जाता है तो प्रसन्न होते हैं, सुख और शान्ति पाते हैं । इसलिये नहीं कि मकान बन गया अपितु इसलिए पाते हैं कि आज मन ने वह विचार छोड़ दिया कि हमें मकान बनवाना है । यही हाल हमारी लड़की की शादी नहीं हो रही इस विचार से भी होता है । माँ-बाप उस विचारं से दुःखी रहते हैं । जिस दिन शादी हो जाती है वह विचार हम से छूट जाता है और हम सुख और शान्ति प्राप्त करते हैं । तो यह पहला कार्य जो मन को सिखाता है, वह है विचार छोड़ने की कला । 'जब कोई विचार छोड़ने से मन सुखी होता है' तो सम्पूर्ण विचार अगर छोड़ दें तो मन कितना सुखी होगा । क्योंकि जब वह विचार छोड़ता है जैसे मकान का विचार छोड़ा तो वह दूसरा कोई विचार पकड़ लेता है । इसलिए वह जो सुख और शान्ति अनुभव की थी, वह बहुत थोड़ी देर हमारे पास रह पाती है । अगर हम उसको ऐसी कला सिखा दें जिससे कि वह बहुत समय तक विचार रहित रह सके तो असली सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है । इसी बात को महर्षि पतञ्जलि जी ने लिखा है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' । परमात्मा से मिलना है चित्त में और मन में कोई विचार न रहे और वही सुख और शान्ति प्राप्त करने का असली रास्ता है, क्योंकि परमात्मा सत् चित् आनन्द है । इसके लिए हमको साधना करनी पड़ती है । क्योंकि कोई भी कार्य अगर हम मन को सिखाना चाहते हैं तो उसका अभ्यास करना पड़ेगा और इस अभ्यास

के लिये जो क्रिया हम करेंगे, उसको उपासना का नाम दिया है । उपासना यानी आमने सामने भक्त और भगवान, इष्ट और साधक रहने चाहिए । लेकिन मन को अगर आप विचार रहित करना चाहें तो वह दो प्रकार से हो सकता है । अगर हम किसी जड़ चीज को लें, जैसे दीवार पर हम एक काला धब्बा बना लें और उस पर ही मन का ध्यान केन्द्रित करें, तब भी मन विचार रहित अवस्था में चला जाता है परन्तु इससे सुख और शान्ति नहीं मिलती । इससे मानसिक शक्तियाँ मिल जाती हैं । हिप्नोटिक पावर मिल जाती है । मानसिक शक्ति मिलेगी परन्तु सुख शान्ति नहीं मिलेगी । उसको प्राप्त करने के लिए परमात्मा के चैतन्य स्वरूप पर अपना ध्यान लगाना पड़ता है । इसी की क्रिया अभी हमने की । जैसा कि आपको अभी भाई साहब ने बताया । **हम अपने इष्ट या गुरु को अपने सामने बिठाते हैं और उनसे प्रकाश लेकर अपने हृदय में देखते हैं और यह सोचते हैं कि वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त हो गया ।** जब प्रकाश को हम अन्दर देखने लगते हैं तो बाहर के इष्ट का विचार हम छोड़ देते हैं और धीरे-धीरे जैसे-जैसे हम अपने मन को इस प्रकार के विचार पर केन्द्रित करते हैं तो एक समय आता है जब हम अपना विचार भी भूल जाते हैं और उस समय केवल प्रकाश का ख्याल रहता है और धीरे-धीरे इस प्रकाश का ख्याल भी मिटता चला जाता है या हम उसमें लय होते चले जाते हैं । परन्तु अन्तिम अवस्था को निरोध अवस्था कहते हैं । उसके आने से पहले एक बीच की अवस्था और आती है । जैसे मनुष्य चौबीस घन्टे में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में रहता है, वैसे ही साधना में प्रथम दो अवस्था हैं जहाँ मन एकाग्र हो गया, वह जाग्रत की तरह है । जहाँ विचार रहित हो गया वह सुषुप्ति की अवस्था है और बीच की जो अवस्था है वह स्वप्न की सी अवस्था आती है । यह अवस्था हर साधक पर आती है कुछ महीने से कुछ साल तक और इस अवस्था में क्या होता है कि साधक को अनेक विचार दिखलाई देते हैं । प्रथम अवस्था में जो मन शान्त हो

गया था वह फिर चंचल होता हुआ दिखाई देता है और साधक यहाँ पर घबड़ा कर यह सोचने लगता है कि मेरा मन विचलित हो गया, मैं साधना में नीचे आ गया । परन्तु यह वह अवस्था है जो साधक के मन को निर्मल बनाती है और जब तक मन निर्मल नहीं होता तब तक निरोध अवस्था प्राप्त नहीं होती । होता क्या है कि जैसे हम गन्दे कमरे में सफाई करने लगें तो हमको गन्दगी दिखाई देती है । इसी तरह जब गुरु की शक्ति हमारे अन्दर आती है तो मन पहले एकाग्र होता है तो हमको सुख और शान्ति का अनुभव होता है । इसके बाद यह शक्ति दूसरा कार्य करने लगती है वह है पुराने संस्कारों की सफाई और जब यह संस्कार हमारे मन से हटेंगे तो हमको दिखाई भी देंगे और इसी कारण से यह स्वप्न अवस्था की सी अवस्था जो रज की अवस्था कहलाती है, आती है । जब तक यह कार्य पूरा नहीं होता तब तक मन पूरा विचार रहित नहीं होगा और असली सुख और शान्ति अनुभव कभी नहीं होगी । जब मन बिल्कुल शान्त होता है वहीं से अध्यात्म ज्ञान प्राप्त होने की सीढ़ी शुरू होती है ।

**

रुको नहीं आगे बढ़ो

महात्मा रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों को उनका कर्त्तव्य समझाने के लिए अपने सत्संग में अक्सर एक प्रसंग सुनाते थे । वह इस प्रकार था कि एक समय एक बहुत गरीब लकड़हारा था जो जंगल से लकड़ी काटकर लाता, शहर में बेचता और इसी प्रकार अपने परिवार का पेट भरता । एक दिन इस लकड़हारे के पास से एक महात्मा गुजरे और उन्होंने कहा कि बेटा और आगे बढ़ो । दूसरे दिन जब लकड़हारा जंगल में लकड़ी काटने गया तो उसने महात्मा का वचन याद किया और कुछ आगे बढ़ गया । वहाँ उसने देखा कि लकड़ी अच्छी है और काटकर लाने पर शहर में उसका अच्छा दाम मिला । कुछ दिन तक वह यही करता रहा और अब उसका बसर अच्छी तरह से होता था । परन्तु एक दिन फिर उसको महात्मा की बात याद आ गयी कि बेटा आगे बढ़ो तो उस दिन वह फिर जंगल में और अन्दर चला गया । वहीं उसने देखा कि चन्दन का वन है । चन्दन की लकड़ी काटकर बेचने से उसके पास बहुत अधिक धन जमा हो गया । बहुत आराम से रहने लगा । मकान भी बनवा लिया । लेकिन थोड़े दिन उसमें रहने के बाद फिर उसे महात्मा की बात याद आई और वह जंगल में और आगे बढ़ा तो उसको पहाड़ी के पास सोने की खान का पता लग गया । अब क्या था, वह सोना लाता, उसको बाजार में बेचता अब उसको मकान की जगह महल हो गया, सभी आराम हो गये, नौकर चाकर इत्यादि । फिर उसमें वह मग्न हो गया परन्तु थोड़े दिन बाद फिर उसे महात्मा की बात याद आई तो फिर वह और आगे गया तो उसने देखा कि एक गुफा में

हीरे जवाहरात का ढेर लगा हुआ है और इस प्रकार वह बहुत ही बड़ा रईस हो गया । तो महात्मा रामकृष्ण कहते थे कि साधक को चाहिये कि कहीं रुके नहीं । जब तक कि उसको अन्तिम पद न मिले । आप देखें कि हमारे शास्त्र बताते हैं कि अध्यात्म मार्ग में जब साधक चलता है तो उसे पाँच कोश पार करने पड़ते हैं । वह कोश हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश । अन्नमय कोश तो उसी दिन पार हो जाता है जिस दिन साधक परमात्मा की ओर चलने का विचार बनाता है । प्राणमय कोश पार करने के लिये साधना करनी पड़ती है जिसमें मुख्य कर्ता हमारी इन्द्रियाँ होती हैं और मन सहायता देता है । यह साधना कर्म योग के नाम से जानी जाती है । इसमें साधक कर्म करता है जैसे -- आसन, प्राणायाम, नेति, धोती, भजन, कीर्तन, मन्दिर जाना, रामायण पढ़ना -- जितने भी यह साधन हैं जिसमें हम कर्म करते हैं इन्द्रियों के द्वारा काम लेते हैं वह इसमें आते हैं । एक समय आता है जब यह इन्द्रियाँ संयम में आ जाती हैं, मन भी थोड़ा शान्त होने लगता है । उस दिन प्राणमय कोश पार हो जाता है और साधक मनोमय कोश में आ जाता है । इस कोश में मुख्य कर्त्ता मन होता है, बुद्धि सहायता देती है । यहाँ पर जो साधना करनी पड़ती है, उसको उपासना या भक्ति कहते हैं । अगर साधक निराकार ब्रह्म की उपासना करता है तो उसको उपासना ही कहेंगे । अगर वह साकार ब्रह्म लेता है तो उसको भक्ति कहते हैं । जैसा नाम है उपासना यानि भक्त और भगवान आमने-सामने रहते हैं । यह क्रिया मन को स्थिर और शान्त बनाने के लिये होती है । साथ ही उसकी निर्मलता भी बढ़ती है । जिस दिन इस क्रिया को करते-करते साधक अपने मन को स्थिर और शान्त बना लेता है उस दिन उपासना योग हो जाता है । और आगे साधक विज्ञानमय कोश में चला जाता है । मनोमय कोश तक तो साधक को साधना करनी पड़ती है । विज्ञानमय कोश में कोई साधना नहीं करनी पड़ती, बुद्धि व मन जब शान्त हो जाते हैं तो अपने आप परमात्मा का ज्ञान प्राप्त

करने लगते हैं और इसको ज्ञान योग कहते हैं । यहीं पर धीरे-धीरे साधक बढ़ता चला जाता है । उसकी बुद्धि निर्मल होती जाती है । परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करते-करते एक दिन वह भी शान्त हो जाती है । उस दिन विज्ञानमय कोश पार हो जाता है । साधक आनन्दमय कोश में आ जाता है । आनन्दमय कोश में प्रेम के अलावा कुछ नहीं है । लेकिन इसको पार करने के लिए एक ही साधन है, वह है "समर्पण" । अपना सब कुछ गुरु या इष्ट के चरणों में समर्पित कर दो । एक अपने गुरु भाई कह रहे थे कि रहने के लिये तो दो ही कोश अच्छे हैं, एक अन्नमय और दूसरा आनन्दमय । या तो अन्नमय कोश में Eat, Drink and be Mary (खाओ, पीओ और मस्त रहो) हो या आनन्दमय कोश में प्रेम की मस्ती में मस्त रहो, बीच में जो कुछ भी है यह तो रास्ते के स्टेशन हैं । सच बात यही है कि यह तो जैसे हम यहाँ से देहली तक जायेंगे तो तरह-तरह के दृश्य दिखलाई देंगे । ऐसे ही प्राणमय, विज्ञानमय कोश में दृश्य दिखलाई देते हैं । परन्तु कई बार ऐसा होता है कि हमको जो कुछ दिखता है या अनुभव होता है, वह इतना आकर्षक होता है कि साधक वहीं अटक जाता है और आगे नहीं बढ़ता । सबसे अधिक कठिनाई मनोमय कोश में आती है । मनोमय कोश इन पाँचों कोशों में सबसे बड़ा और जो कुछ भी होता है जो साधक के लिये रुकावट का कारण हो सकता है, वह इसी कोश में होता है जैसे अपने यहाँ की साधना में ही देखें । जब साधक दो तीन साल पुराना हो जाता है, तो उसको एक इच्छा जाग्रत हो जाती है कि मैं भी आचार्य बनूँ । दूसरों को शिक्षा दूँ, गुरु महाराज के मिशन का कार्य करूँ और इसमें वह अपनी उन्नति रोक देता है । मुसलमानों में एक कहावत है पहले घर में दिया जलाओ फिर मस्जिद में जलाओ । लेकिन वह यह बात भूल जाता है, अपनी उन्नति छोड़कर दूसरे की उन्नति के लिये इच्छा करने लग जाता है कि मुझे भी किसी प्रकार इजाजत मिल जाय । इसी प्रकार और आगे जब बढ़ता है तो साधक को फिर कुछ अनुभूतियाँ

होती हैं, इससे कुछ शक्तियाँ आ जाती हैं । जैसे जो वह विचार करे वह पूरी हो जाय, दूसरों के विचार जान ले इत्यादि । और वहाँ भी वह इसको इस्तेमाल करके समाज में प्रतिष्ठा पाने में अटक जाता है । इसके अलावा और आगे जाकर जब उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, मन इससे शान्त और स्थिर होने लगता है तो कभी-कभी उसका भाव ऐसा जाग्रत होता है कि वह अपने को और संसार को भूलकर उसी भाव में लय हो जाता है । उस समय वह भाव साकार बनके उसके सामने आ जाता है । यह मनोमय में प्रथम दर्शन होता है परमात्मा का । जो निराकारवादी हैं उनको ऐसा अनुभव होता है कि कुछ हमारे सामने है और वह आनन्द दे रहा है । साकार को तो उनका भाव साकार रूप के सामने आयेगा और वो भगवान की स्थूल मूर्त्ति देख लेगा -- यहाँ आकर फिर एक रुकावट आती है कि हमको तो भगवान के दर्शन हो गये । बस, हमारा काम पूरा हो गया -- यह सब रुकावटें इसीलिये आती हैं कि हम अपने को कर्त्ता मान लेते हैं, आप इस साधना को देखें । शुरू से गुरु महाराज हमको यही शिक्षा देते हैं, कि तुम तो केवल द्रष्टा हो कर्त्ता मैं हूँ, तो आचार्य बनने के बाद या पहले जो कुछ होता है उसको द्रष्टा की तरह देखना चाहिये और श्री गुरु महाराज जी को कर्त्ता मानना चाहिये । तभी हम रुकावटों से बच सकते हैं जैसे वह लकड़हारा बीच-बीच में याद करता रहता था कि गुरु महाराज जी ने, (महात्मा जी ने) उसको कहा था । वैसे ही हमको भी अपनी उन्नति की ओर नजर रखनी चाहिये । यह न हो कि आचार्य बनने के बाद हम भक्तों की तो चिन्ता करें, अपनी उन्नति रोक दें ।

गुरु महाराज, पूज्य पण्डित जी, पूज्य जिया और पूज्य बड़े भैया जी ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने अपने को कभी कर्त्ता नहीं समझा । गुरु महाराज भी हमेशा कहते थे कि यह सत्संग तो दादा गुरु या उनके गुरु महाराज जी का है, वे ही सत्संग कराते हैं । मैं तो केवल

द्रष्टा की तरह बैठा रहता हूँ । यही बात पूज्य पण्डित जी, बड़े भैया इत्यादि सभी कहते थे । हमको भी यही चाहिये कि यह द्रष्टा भाव हम अपने में लाते रहें क्योंकि इस मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट यही है कि हमें अपने अध्यात्म ज्ञान का अहंकार आ जाता है । अगर अध्यात्म ज्ञान का अहंकार हो गया और उसे हम गुरु के चरणों में नहीं चढ़ा पाये तो रुकावट ही रुकावट है । इसीलिये गुरु महाराज जी ने यह परम्परा बनायी थी कि रोज साधना के बाद अपनी जो साधना का फल है उसको अपने गुरु के चरणों में अर्पित कर दें ।

इस समय यह नैवेद्य रखा हुआ है जिसका दिया हुआ है, उसी को दो मिनट आँख बन्द कर अर्पित करें और उनसे यह प्रार्थना भी करें कि हमारे जितने भी पुण्य फल हैं, वे उनके चरणों में समर्पित हैं वह उनको ग्रहण करें ।

**

मन को पलटना

एक महात्मा के पास एक साधक गये और बोले कि जब ईश्वर सब जगह व्याप्त है तो हमको क्यों नहीं दिखाई देता ? हम उसको आसानी से क्यों नहीं देख सकते ? तो महात्मा ने कहा कि यहाँ पास में एक तालाब है, वहाँ एक मछली रहती है, इस प्रश्न का उत्तर वह देगी तो साधक वहाँ तालाब के किनारे गया और उस मछली से पूछा मुझे उन महात्मा ने भेजा है और मेरा एक प्रश्न है । तो मछली बोली कि प्रश्न का उत्तर तो बाद में दूँगी पहले यह बताओ कि मैं पानी में रहती हुई तीन दिन से प्यासी क्यों हूँ ? तो उस आदमी ने कहा कि यह तो बहुत आसान प्रश्न है । मछली जब तक पलटती नहीं है तब तक उसके गले में पानी नहीं जाता है । तुम पलट जाओ तो प्यास बुझ जायेगी । तो मछली ने कहा कि यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है । तुम अगर मन को पलट लो तो तुम ईश्वर दर्शन कर सकते हो । जब तक मन सांसारिक विषयों में लगा रहता है तब तक ईश्वर का दर्शन नहीं हो सकता । मन जब तक संसार के कामों में लगा रहता है वह ईश्वर की तरफ नहीं देख पाता । और सांसारिक विषयों से हटकर ईश्वर की तरफ मुँह कर लो तो ईश्वर दिखाई दे सकता है । यह इतना आसान तो नहीं है जितना कहना कि मन को पलट लीजिये । मन को पलटना बड़ा मुश्किल काम है; क्योंकि वह जन्म जन्मान्तर से इसी कार्य में लगा हुआ है । नीचे के संसार में व्याप्त है । अब हम इस वक्त वही क्रिया करेंगे

जिससे कि हमारा मन पलट सके । उस मन को जो कि हर समय संसार के विषय में लगा रहता है शान्त होकर ईश्वर की तरफ घूम जाय । इसके लिये आप लोग ऐसे सुखासन से बैठ जाइये । आसन ऐसा चाहिए कि पन्द्रह-बीस मिनट हिलना-डुलना न पड़े और आप बैठ कर ऐसा ध्यान कीजिये कि माता जी या आपके इष्ट सामने विराजमान हैं। उनसे एक प्रकाश आ रहा है वह आपके हृदय में और रोम-रोम में व्याप्त होता जा रहा है । जब मन इस विचार से हटे तो उसको फिर इस विचार पर ले आवें और यह क्रिया करते रहें। तब तक कि यह न कह दिया जाय कि बस करें । अभी प्रार्थना होगी । जो भाई प्रार्थना जानते हैं वे तो प्रार्थना करेंगे बाकी भाई इसी क्रिया को करते रहेंगे ।

**

मानवीय धर्म -- साधना का आरम्भ

अभी विरल भाई साहब ने धर्म और उसके अन्तर्गत आने वाले दो प्रकार के कर्मों की बात की । आज संसार में अनेक धर्म हैं और उन धर्मों में अनेक सम्प्रदाय हैं । हर धर्म का जो रहने-सहने का तरीका है, वह अपना अलग है और उसमें दो प्रकार के कर्मकाण्ड होते हैं । जैसा कि सुना आपने एक तो वह जो शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, दूसरे वह जो आत्मा से । इसी के बारे में श्री गुरु महाराज ने लिखा है कि धर्म के दो अंग होते हैं । एक शारीरिक, दूसरा पारमार्थिक, तो उन्होंने पारमार्थिक जो धर्म बतलाया है इसके लिये दो भाग बताये । एक साम्प्रदायिक दूसरा मानवीय । तो जो साम्प्रदायिक धर्म है वह सबका अलग-अलग है, बिल्कुल भिन्न होता है । लेकिन मानवीय धर्म सबका समान है । हर मनुष्य का एक ही है । उन्होंने आगे बताया कि जहाँ साम्प्रदायिक धर्म समाप्त हो जाता है वहाँ मानवीय धर्म शुरू होता है । उन्होंने आगे कहा कि जो सम्प्रदाय है वह किसी न किसी महात्मा या महापुरुष ने शुरू किये और उससे साधकों को बहुत लाभ हुआ । तो कोई भी सम्प्रदाय गलत नहीं था । लेकिन उसमें जो अनुयायी Followers थे उन्होंने किसी कारण से कुछ त्रुटि ला दी, विकृति ला दी । उसके दो ही कारण थे या तो अनुयायियों के अपने न समझने के कारण या और किसी कारण

उनकी जो साधना थी उसमें अपना नमक-मिर्च मिलाया । या दूसरा कारण यह हो सकता है कि साधना का रहस्य ही उनको समझ में नहीं आया और वह गलती करते चले गये ।

श्री गुरु महाराज ने लिखा है कि अधिकतर सम्प्रदायों में जो विकृति आई वह इसी कारण से थी कि जो साधक गण थे वह न तो साधना को समझ पाये न अपने लक्ष्य को साधा । जब साधना समझी ही नहीं तो लक्ष्य ही कहाँ याद रहेगा और जब लक्ष्य नहीं याद रहेगा तो हमारा रास्ता भटकना ही है । इसी कारण से सम्प्रदायों में विकृति आ गयी । आप देखिये सभी सम्प्रदायों का जो लक्ष्य था वह एक ही था कि उस परमपिता परमेश्वर को उस परम तत्व को उस परम आनन्द को प्राप्त करें और उसकी तीन प्रकार की साधनायें हमको देखने को मिलती हैं । वह साधनायें कर्म, उपासना और ज्ञान के अन्तर्गत आती हैं । यह तीनों प्रकर की साधनायें अलग-अलग नहीं हैं लेकिन एक-दूसरे की पूरक हैं । पहले कर्म करना पड़ता है फिर उपासना करनी पड़ती है फिर ज्ञान का नम्बर आता है तब उस परम तत्व को हम प्राप्त करते हैं । जैसा कि आपने श्री लल्लू जी से भी सुना । जब तक कि उपासना या भक्ति न हो तो परमेश्वर कभी प्राप्त नहीं होता क्योंकि आप जब किसी से मिलने आये तो उसके घर पर गए, तो आपका यह कर्म हुआ । जब आप उसके पास बैठे, उसको देखा, उसकी बातें सुनीं तो वह उपासना हुई और फिर उसके बाद में जो ज्ञात हुआ उसके बारे में जो अनुभव हुआ वह ज्ञान है तो यह तीनों चीजें जब तक न हों तब तक हमको वह पूर्ण परमतत्व प्राप्त नहीं होगा । इस उपासना में क्या करना है, यह भी अभी आपने सुना ।

आज हम सब इकटठे हुए हैं, आज भगवान कृष्ण का जन्म दिन है । उन्हीं के जीवन का एक प्रसंग लीजिए । वह है कालिया दहन । आप सबने यह सुना भी होगा या पढ़ा भी होगा कि उस

समय यमुना में एक नाग रहता था उसका नाम कालिया था । उसके १०१ फन थे । वह फनों के द्वारा विष उगलता रहता और यमुना का जल अपवित्र करता था जिससे कि जो भी उसको पीता वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता । एक दिन भगवान कृष्ण अपने सखाओं के साथ गेंद खेल रहे थे और वह गेंद उसमें चली गई, तो उनको जो आनन्द था खेलने का, वह नष्ट हो गया और भगवान कृष्ण को आखिर में यमुना में कूदना पड़ा और बड़े यत्न के बाद उस कालिया नाग को उन्होंने नाथा । यही कार्य हर साधक को करना पड़ता है । यह कालिया नाग और कोई नहीं है यही हमारा मन है । जो एक सौ एक नाड़ियों के द्वारा हमको विषयों की तरफ भेजता रहता है । यही विषय जो कि उसमें वर्णित है, तो हमको भी वहाँ कूद कर इस मन को वश में करना है, उसके जो १०१ फन हैं उनको नाथना है । जब ये नाथे जायेंगे तब हम उस स्थिति में पहुँचेंगे जहाँ पर कि मन शान्त हो जायेगा । सब कुछ भुला देगा और यही स्थिति महर्षि पतञ्जलि ने लिखी है कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" । जब तक वह नहीं आयेगी उपासना नहीं होगी । उपासना होने के बाद भी जब हम मनोमय कोश से आगे बढ़ते हैं तब हम विज्ञानमय और आनन्दमय कोश में आते हैं । उस परमपिता परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं और हर मनुष्य में उस पिता की झलक देखते हैं । जब उसकी झलक हमको दिखायी देती है तभी हम जाके मानवीय धर्म के पालन करने लायक बनते हैं । जहाँ तक कर्म है, उपासना है, वहाँ तक सम्प्रदाय का बन्धन है । क्योंकि जहाँ कर्म रहेगा वहाँ हर सम्प्रदाय अलग रहेगा । उससे थोड़ा आगे जाके भी सम्प्रदाय का बन्धन रहता है । जब वह हर एक में यह देखता है कि वही चीज दिखायी दे रही है तो सम्प्रदाय का वह बन्धन टूट जाता है, यहाँ पर साम्प्रदायिक धर्म खत्म हो जाता है और मानवीय धर्म शुरू होता है । उसका एक दृष्टान्त आप देखें । गुरु गोविन्द सिंह जी के जमाने में जब मुगलों से लड़ाई होती थी उस समय एक सिक्ख सरदार थे, उनका कार्य केवल यह था कि जो

घायल व्यक्ति थे उनको पानी पिला दें । वे घायल व्यक्तियों को पानी पिलाते थे, उनको इससे कोई मतलब नहीं था कि वह सिख या मुसलमान । लोगों ने गुरु महाराज से शिकायत की कि भगवान आपने तो उनको अपने लोगों को पानी पिलाने को कहा था लेकिन वह तो सभी भाइयों को पानी पिता है, दुश्मन को भी और अपनों को भी पिलाता है । गुरु गोविन्द सिंह जी ने उनको बुलाया कि भाई तुम्हारी शिकायत आई है तुम ऐसा करते हो । उसने कहा कि हुजूर आगे से नहीं होगा । लेकिन फिर जब वह घायलों को पानी पिलाने गया फिर सब कुछ भूल गया फिर सबको पानी पिलाता रहा और फिर दूसरी शिकायत हुई । गुरु गोविन्द सिंह नाराज हुए, उसने कहा कि महाराज मुझे क्षमा करें । मुझे तो सब में आप दिखाई देते हैं । मैं यहाँ केसे सिद्ध करूँ कि कौन अपना है कौन पराया । यही मानवीय धर्म है और ये साम्प्रदायिक धर्म से ऊँचा होता है । इसीलिए गुरु महाराज से एक बार जब एक जिज्ञासु ने उनसे पूछा था कि आपकी साधना कहाँ से शुरू होती है तो यही कहा था कि जहाँ सब सम्प्रदाय और धर्म समाप्त हो जाते हैं, वहाँ से हमारी साधना शुरू होती है । यही बात पूज्य पण्डितजी ने भी कही थी कि धर्म कुछ नहीं है, केवल कर्त्तव्य का पालन है और कर्त्तव्य का पालन तभी आता है जब अपना विवेक उत्पन्न हो जाता है । जब हम अपनी भेद-भाव की वृत्ति छोड़ देते हैं । इसीलिए मेरी आप पुराने सत्संगी भाइयों से यह प्रार्थना है कि इस सत्संग की पवित्र धारा को किसी बन्धन में न बाँधें । उसको स्वच्छ बहने दें । कर्मकाण्ड की कठिन क्रियाओं में न बाँधें और इसके बारे में मुझे एक घटना याद आ रही है । सन् १९५६ की बात है आरा में सत्संग प्रोग्राम हो रहा था । भयंकर जाड़े का दिन था । दिसम्बर का अन्त था और उस समय जब गुरु महाराज तैयार हुए तो किसी कारणवश पूज्य पण्डितजी स्नान न कर पाये तो गुर महाराज ने कहा, अरे स्नान नहीं कर पाये चलो कोट पहन लो ध्यान के लिये । स्नान कोई आवश्यक नहीं और वह इसी तरह से उनको पाण्डाल में ले

गये। सब कुछ हुआ, लेकिन दूसरे दिन कुछ और आचार्यगण थे उनमें सुस्ती आ गयी । वह नहा के तैयार नहीं हुए, सुबह जब गुरु महाराज कमरे से निकले और उन सबको डाँटा, अरे तुम लोग अभी तक तैयार नहीं हुए । जल्दी स्नान करके आओ, यह दो दिन की जो बात है वह हमको समझाने के लिये थी कि इस मार्ग में कोई बन्धन नहीं है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम लापरवाह हो जायें । इसीलिये मैं सबसे यह नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि सत्संग की धारा को किसी बन्धन में न बाँधें । किसी अनुष्ठान में किसी कर्मकाण्ड में में न रह जायें । दूसरी बात जो मुझे प्रार्थना करनी है वह यह है कि अपने लक्ष्य को न भूलें । अधिकतर होता क्या है कि हम अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं, और इस बात का ठेका ले लेते हैं कि दूसरा क्या कर रहा है, उसको हम सुधारें पर हम यहाँ आये थे, अपने को सुधारने के लिये । अपना कुछ लक्ष्य था कि उस परम आनन्द को प्राप्त करेंगे वह सब तो भूल जाते हैं और दूसरे को सुधारने का ठेका ले लेते हैं, इसको भी ध्यान में रखें । इस समय नैवेद्य रखा है गुरु महाराज से दो मिनट आँखें बन्द करके उनसे प्रार्थना करें कि वह इसको स्वीकार करें और यह भी प्रार्थना करें कि वे हमको अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल करें ।

**

कर्म काण्ड से आगे -- उपासना

भगवान प्राप्ति के जितने साधन हैं उनको हम योग कहते हैं । ऐसे आजकल योग का अर्थ यह होता है कि साधन, प्राणायाम या आसन । लेकिन अगर प्राचीनकाल के योग का मतलब लें तो ईश्वर प्राप्ति के जितने साधन थे उनको ही योग कहते हैं । असली योग का मतलब मिलना होता है जैसे दो और दो का योग चार, इसी तरह से जब जीव परमात्मा से मिलता है तो योग होता है और इसके जो साधन हैं वह हम तीन भागों में बाँटते हैं -- कर्म, उपासना एवं ज्ञान क्योंकि इन तीनों प्रकार के साधनों से मनुष्यों के जो तीन शरीर होते हैं -- स्थूल, सूक्ष्म और कारण वह शुद्ध होते हैं । तभी हम उस भगवान परम पिता परमेश्वर से योग करते हैं ।

स्थूल शरीर के शुद्ध करने को जो साधन होते हैं उन्हीं को हम कर्म के नाम से जानते हैं, जिसमें मन्दिर जाना, जाप करना, कीर्तन करना और आसन, प्राणायाम करना सब कुछ आ गया । वह सारे साधन ऐसे हैं जिसमें इन्द्रियाँ कार्य करती हैं और मन साथ देता है । जब इसको करते-करते ऐसी स्थिति आती है कि इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं और वे शान्त हो जाती हैं और तब उसका योग होता है । साधक की सारी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और वह दूसरे प्रकार के साधन करने लगता है जो सूक्ष्म शरीर को शान्त व शुद्ध करता है । इन साधनों को अगर हम देखें तो उसको उपासना या भक्ति कहते हैं जिसमें जो मुख्य कार्य करता है वह मन होता है और बुद्धि साथ देती है । अपने यहाँ की जो साधना है वह भी इसी प्रकार की है ।

जब ईश्वर का हम निराकार रूप लेते हैं तो उसको हम उपासना कहते हैं जब साकार रूप लेते हैं तो भक्ति कहते हैं और इस साधना को करते-करते एक समय आता है जब मन भी शुद्ध हो जाता है । वह स्थिर और शान्त हो जाता है, तब उपासना योग होता है । आगे का कार्य ज्ञान योग कहलाता है और ज्ञान के द्वारा बुद्धि निर्मल होती है । इन तीनों प्रकार की साधनाओं में कुछ न कुछ शान्ति तो मिलती है वरना मनुष्य उसे करेगा ही क्यों । पण्डित जी इन तीनों प्रकार की साधनाओं के लिये एक उदाहरण देते थे जैसे कि पानी है उसमें अगर पत्थर का आप सम्पर्क करायें, उसमें डालें तो ऊपर से पानी उसमें लिपट जायेगा । साथ ही एक बात और होगी कि पत्थर की जो गर्मी है वह पानी ले लेगा और वह शान्त हो जायेगा, शीतल हो जायेगा इसी प्रकार से जो कर्म की साधनायें हैं उनसे भी लोगों को दुःख में सुख मिलता है, कुछ शान्ति मिलती है ।

इसलिये जितने प्रकार की साधनायें हैं सबमें कुछ न कुछ सुख और शान्ति मिलती है लेकिन हमको यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बस यहीं अन्त हो गया । सुख प्राप्त करने को दूसरी उपासना की उपमा उन्होंने यह दी कि रुई का एक टुकड़ा ले लो और उसे पानी में डालो उसके अन्दर बाहर सब पानी और उसकी शीतलता आ जायेगी परन्तु यहाँ भी द्वैत भाव रहेगा । रुई के रेशे अलग रहेंगे, पानी अलग रहेगा, हालांकि पानी उस रुई के टुकड़े में अन्दर तक व्याप्त हो गया, लेकिन तब भी अलग स्थूल आकार है इसी तरह से उपासना में भी यही होता है कि पत्थर को तो अधिक शान्ति मिलती है । लेकिन उतनी नहीं मिलती जितनी मिलनी चाहिये । यह भी असली मिलन नहीं है । तीसरी प्रकार का मिलन उन्होंने वह बतलाया जैसे पानी में एक नमक की डली डालो । उस नमक का अस्तित्व मिट जायेगा । वह सारे पानी में छा जायेगा । यही पूज्य पण्डित जी ने असली मिलन बताया था कि जब जीव परमात्मा में लय हो जाय ।

तो इसको प्राप्त करने की जो साधना है वही असली साधना है । लेकिन यह हमारा उद्देश्य है प्राप्त करने की साधना नहीं । इसको प्राप्त करने के लिए एक दूसरी सीड़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं इसलिये प्राचीनकाल के ऋषियों ने जो मन्दिर जाना या कीर्तन करना बताया यह कर्मकाण्ड है क्योंकि इससे पहले इन्द्रियाँ साफ होंगी, स्थूल शरीर साफ होगा । जैसा कल गुप्ताजी ने आपको बताया कि समय-समय पर साधनाओं में परिवर्तन होता रहता है । यह भी ऋषियों ने देखा कि इन्द्रियों का राजा मन है । अगर मन को वश में कर लें तो इन्द्रियाँ तो अपने आप वश में आ जायेंगी, शान्त हो जायेंगी, निर्मल हो जायेंगी, इसलिये आगे साधना उपासना से शुरू होने लगी ।

गुरु महाराज ने भी हमें यहीं से शुरुआत कराई क्योंकि मन वश में आ जाये । पिछला जो कार्य है फिर वह न करना पड़े तो हमारी वह साधना है वह मन के स्थान से शुरु होती है और यहीं से हम आगे चलते हैं । लेकिन गुरु महाराज ने अभी बताया असली मिलन तो वह है जो नमक और पानी का होता है । इसलिए हमारी साधना में दो बातें हैं कि एक तो सुबह-शाम ध्यान की क्रिया करना जिससे मन वश में आता है, संयम में आता है, निर्मल होता है । दूसरा जब भी खाली समय मिले, पाँच समय बताये थे उठते-सोते वक्त खाना खाते वक्त और जब भी खाली समय मिले उस समय गुरु का ख्याल करने से गुरु की याद करने से वह जो चौथा मिलन है, वह होता है । तीसरा तो हमको यह दोनों साधन करने चाहिये, जिससे जल्दी कार्य हो ।

तो इस समय हम उसी उपासना की क्रिया को करेंगे जिससे मन स्थिर और शान्त होता है, क्योंकि यह मन की क्रिया है इसलिए पहले एक ऐसे आसन से बैठ जायें जिससे हिलना-डुलना न पड़े क्योंकि जब शरीर हिलता है तो मन भी हिलता है, उसके बाद कुछ ऐसे बैठें कि रीढ़ की हड्डी सीधी रहे पर उसमें तनाव न हो और

इसके लिए ठोड़ी थोड़ी नीचे झुकाने से अच्छा रहता है फिर आँख मूँद कर ऐसा ध्यान करें कि परमात्मा प्रकाश रूप में हमारे सामने है और इसका प्रकाश हमारे हृदय में जा रहा है । रोम-रोम हमारा उस प्रकाश से भर रहा है । साधना केवल इतनी है कि आँख बन्द करके ऐसा ख्याल करें कि परमात्मा प्रकाश रूप हमारे सामने है, उनका प्रकाश हमारे हृदय के अन्दर जा रहा है । जो पुराने भाई-बहिन हैं वह तो वैसी ही क्रिया करते रहें जैसी पहले से करते आ रहे हैं । यह नये भाई बहिनों के लिए है । पहले जैसे हमारे यहाँ की प्रथा है दो प्रार्थनाएँ होंगी उसके बाद यह क्रिया चलती रहेगी । जब यह कह दिया जाय कि बस कीजिये तभी बन्द करें । बीच में जब कभी आपको ऐसा ज्ञात हो कि मन विचलित हो गया है कहीं और भाग गया है तो फिर इसी बात पर ले आयें कि ईश्वर प्रकाशमय हमारे सामने है । उनका प्रकाश हमारे हृदय में आ रहा है, हमारा रोम-रोम प्रकाश से भर रहा है क्योंकि यह उपासना की क्रिया है, इसलिये इस समय आप कोई जाप वगैरह करते हों तो न करें वह इसके बाद करें ।

**

गुरु में मिलना

कल श्री पालसिंह भाई साहब ने आपको कहा कि यह ऐसा रास्ता है, कि जितना चलते हैं उतनी ही मंजिल दूर होती है । या जितनी मंजिल तय होती है उतनी ही और बढ़ जाती है । और सचमुच ऐसा ही होता है । जैसा कि विरल भाई साहब ने कल आप लोगों को बतलाया था यह बात है भी ।

अगर हम भगवान कृष्ण का जीवन देखें, उन्होंने कई बार अपने विराट् स्वरूप का दर्शन दिया । प्रथम बार तो उन्होंने यशोदा को उस समय दिया जब उन्होंने कहा कि तुमने माटी खायी है । जैसे ही भगवान कृष्ण ने मुँह खोला तो उनको वह विराट् स्वरूप दिखा ।

दूसरी बार उन्होंने उस समय दिया जब वे पाण्डवों के दूत बन के महाराज धृतराष्ट्र की सभा में गये थे कि दुर्योधन किसी तरह मान जायें । लेकिन जब उनको वहाँ ज्ञात हुआ कि दुर्योधन तो उन्हीं को मारना चाहता है तब उस समय भी विराट् स्वरूप का दर्शन दिया । लेकिन कुछ ही लोगों को यह दर्शन हुआ, सबको नहीं ।

तीसरी बार अर्जुन को युद्ध से पहले यही दर्शन हुआ वह पूर्ण दर्शन था और मैंने कहीं पढ़ा था कि चौथा दर्शन भीष्म पितामह को उस समय हुआ जब बाण की शैया पर पड़े हुये थे, और पाण्डव उनसे धर्म की शिक्षा लेने गये थे ।

लेकिन इन दर्शनों में एक बात साफ लिखी हुई है कि जिनको उन्होंने दिव्य दृष्टि दी वही वह दर्शन प्राप्त कर सके और वो दिव्य दृष्टि ही गुरु की कृपा है । अभी जैसे भाई साहब ने प्रसंग सुनाये कब गुरु महाराज ने किस पर कृपा की तो जब-जब वो कृपा करते हैं, तभी यह दिव्य दृष्टि मिलती है । लेकिन इस दिव्य दृष्टि करने के लिए रामायण में यह भी लिखा है कि "श्री गुरु पद नख मनिगन जोती । सुमिरन दिव्य दृष्टि हिय होती ।" यानी गुरु के पैरों के नाखून से जो धारा निकल रही है प्रकाश की वह मणियों के समूह की सी ज्योति है उसको जब हम ख्याल करेंगे तब दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी ।

गुरु कोई शरीर नहीं होता जिसके पैरों के नाखून से प्रकाश की धार निकलती है । प्रकाश उसकी आत्मा का प्रकाश है और यह प्रकाश उसका स्वयं का भी नहीं है, वह तो जब अपने गुरु में लय होता है, तब वो असली प्रकाश निकलता है क्योंकि जब वह अपने गुरु में लय होगा तो यह धार बढ़ती चली जायेगी और अन्त में जाकर भगवान शंकर ने जैसे गंगा को लिया था और वह गंगा हम सब को गोते लगाने से पवित्र करती है, वही धार है असली गंगा । यही ईश्वर का ही रूप बन जाता है । वह धार जो ईश्वर से उतरती चली आई उसके गुरु के द्वारा, यही असली गंगा है और जब तक यह धार नहीं बहेगी वह गुरु प्रकाश नहीं ले सकता । जब दिव्य दृष्टि के लिये उसकी कृपा होगी तब वह चरण रज व प्रकाश भी मिलता है जब वह अपने गुरु में लय हो ।

आपको इसी को समझाने के लिये विज्ञान का एक उपकरण मैं बताता हूँ । यह सौर कुकर या सौर ऊर्जा से चलने वाला चूल्हा है । आजकल दो प्रकार के यह सौर ऊर्जा के कुकर चलते हैं एक तो ऐसे शीशे से चलते हैं जैसे हमारे दर्पण । दूसरे में शीशे इस प्रकार

के होते हैं जैसे चाय के प्याले की प्लेट । तो मैं जिसकी बात कर रहा हूँ वह दूसरे प्रकार का है । इसमें इस उपकरण के दो भाग होते हैं । एक दर्पण होता है जिसकी शक्ल चाय के प्याले की प्लेट की तरह होती है, और उस पर सूर्य का प्रकाश पड़ के उस दूसरे भाग पर पड़ता है । इस भाग की यह असलियत होती है कि जब तक यह भाग सूर्य की ओर अपना मुख किये रहेगा और सूर्य की किरणें उस पर पड़ती रहेंगी तब तक वह दूसरे भाग को अपनी शक्ति, सूर्य शक्ति देगा । दूसरा इसका जो गुण है वह यह है कि जितना यह निर्मल होगा उतना ही सूर्य की शक्ति और इसके द्वारा जो दी हुई शक्ति है, उसमें फर्क नहीं होगा । अगर इसमें एक छोटा-सा काला धब्बा होगा तो दोनों की शक्ति में परिवर्तन होगा । इसलिये गुरु जितना निर्मल होगा उतना ही ईश्वर का प्रकाश आपको दे सकेगा । गुरु ऐसा होना चाहिये जो हर समय अपने गुरु में लय रहे । राग-द्वेष या जो सांसारिक पाँच व्याधियाँ हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह और हिंसा आदि के लपेट में न आए । अगर यह छोटा-सा धब्बा भी होगा तो यह सूर्य का प्रकाश शीशे पर पड़ता है, वह आगे नहीं जायेगा । उसमें उतनी ही कमी आ जायेगी और दूसरे भाग का गुण यह है कि उसका संग्रहण करने का गुण है वह पहले भाग की तरफ रहना चाहिये । तभी यह उस शक्ति को ग्रहण कर सकता है और दूसरा गुण उसमें कोई कम्पन न हो । वह हिलता-डुलता न हो क्योंकि हिलेगा तो वह पावर जो मिल रही है वह नहीं मिल पायेगी, उसको वह ग्रहण नहीं कर पायेगा ।

शिष्य को भी यह चाहिए कि जैसा विरल भाई साहब ने बताया था । जब दोनों दर्पण आमने-सामने होंगे तभी वह प्रतिबिम्ब उसमें पड़ेगा तभी वह भी उस प्रकाश को फैला सकेगा । वही बात है कि शिष्य जब तक गुरु मुख नहीं होगा तब तक वह गुण उसमें

नहीं होगा। अगर आप गुरु शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो गुरु मुख होना आवश्यक है। गुरु भी ऐसा हो जो अपने को अपने गुरु में लय किये हो और शिष्य भी ऐसा हो जो हर समय गुरु मुख हो क्योंकि यह पता नहीं कि कब गुरु कृपा करेंगे और वह धार हमको मिलेगी।

हमारे यहाँ ऐसे कई महापुरुष हुए जैसे पण्डित जी, बिहारी जी, वंश नारायण, मालिक जो हर समय गुरु की याद में उनकी ओर मुख किये रहते थे। इसी कारण से उन्होंने दिव्य दृष्टि प्राप्त की जिसके कारण वे दूसरों का भी कल्याण कर सकें।

इस समय हम सब दो मिनट आँख बन्द करके गुरु महाराज से प्रार्थना करें कि इस नैवेद्य को स्वीकार करें। साथ ही हमें ऐसी शक्ति दें जिससे कि हम हर समय उनकी याद रख सकें और उनकी इच्छानुसार काम करें।

**

साधना का सार तत्व -- समर्पण

जब साधक सत्संग में आता है तो कुछ समय तो उसकी साधना ठीक चलती है परन्तु थोड़े दिन बाद उस पर वह कहावत चरितार्थ होने लगती है कि "आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास" । कुछ समय के लिए यह हर साधक पर आती है और अगर हम इसका कारण ढूँढ़ें तो ऐसा लगता है कि या तो उसने लक्ष्य को ही समझा नहीं है या साधना में उसको क्या करना चाहिए । यह उसको ठीक तरह से समझ में नहीं आया । जहाँ तक साधक को साधना में क्या करना है । उसका क्या कर्त्तव्य है । -- प्रोफेसर साहब ने अभी बड़े विस्तार से आपको समझाया । कुछ दूसरी बातें हैं जो मैं आपको कह दूँ । जब साधक साधना शुरू करता है तो उसके सामने तीन केन्द्र होते हैं । एक ईश्वर, दूसरा गुरु, तीसरा स्वयं साधक – और वह भी जानता है कि मेरा लक्ष्य यह है कि इन तीनों को एक दूसरे में मिलाकर लय कर दूँ । इसके लिए ही सारी साधनायें होती हैं । ऐसा समझ लीजिए कि यह तीनों केन्द्र एक त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं । सन्त मत में क्या करते हैं कि तीनों को एक साथ मिलाने की जगह पहले दो केन्द्रों को एक से मिलाते हैं । जैसा अभी प्रोफेसर साहब बता रहे थे कि ईश्वर और गुरु को पहले एक कर दिया जाता है । यह कार्य एक दिन में सम्पन्न नहीं होता । साधक को पहले सत्संग में साधना बता दी जाती है और जैसे-जैसे वह साधना करता है, गुरु के सानिध्य में आता है वह गुरु के बारे में समझना प्रारम्भ करता है तो धीरे-धीरे उनको उस तरफ जाने को प्रेरित करता है ।

पहले ही दिन साधक देखता है तो यह समझता है कि यह साधारण मनुष्य से अच्छा मनुष्य है लेकिन धीरे-धीरे जैसे-जैसे वह उनके सानिध्य में आता है साधना में आगे बढ़ता है, तो वह यह समझने लगता है कि गुरु ईश्वर की तरह ही है । उसके समान ही है । फिर जब वह आगे बढ़ता है तो एक समय आता है जब उसको यह समझ में आता है कि गुरु और ईश्वर एक ही है, लेकिन गुरु साधक के लिये ईश्वर होता है और मनुष्यों के लिये नहीं । यहाँ पर कई बार यह प्रश्न आ जाता है कि साधक -- गुरु और ईश्वर को एक क्यों मानता है । इसके लिए आप साइन्स के युग में एक उदाहरण से समझ सकते हैं कि सूर्य का प्रकाश अगर एक दर्पण पर पड़ंता है तो उससे वह निकलता है दूसरी दिशा में दोनों प्रकाश में कुछ फर्क होता है । यह फर्क दो कारणों से होता है एक कारण तो यह है कि दर्पण जिस पदार्थ का बना होता है, वह सूर्य के प्रकाश का कुछ भाग अपने में अवशोषण कर लेता है, सोख लेता है तो निकालने वाले प्रकाश में कमी आ जाती है । दूसरी बात है कि अगर दर्पण पर कुछ काले धब्बे पड़े हों तब भी पड़ने वाले प्रकाश में और निकलने वाले प्रकाश में अन्तर आ जाता है तो यदि पदार्थ ऐसा हो जो अपने अन्दर सूर्य के प्रकाश का कोई भाग अपने अन्दर ग्रहण न करे और केवल अपने ऊपर डालकर वैसा ही उसको निकाल दे, प्रतिबिम्बित कर दे तो वह कमी नहीं आयेगी । इसी तरह से अगर उस पर काला धब्बा कोई भी नहीं है तो भी वही बात होगी कि पड़ने वाले प्रकाश में और निकलने वाले प्रकाश में कोई अन्तर नहीं होगा । तो जो सद्‌गुरु होता है, वह परम पिता परमेश्वर के प्रकाश को अपने ऊपर लेकर साधक पर फेंकता है जैसे एक आदर्श दर्पण सूर्य के प्रकाश को दूसरी दिशा में भेजता है ।

तीसरी बात जो उसके लिये आवश्यक है, वह यह है कि उसकी सुरति की धार हमेशा परमात्मा से या अपने गुरु में लगी रहनी चाहिए । जो इन तीनों को कर सकता है वही सद्‌गुरु बन

सकता है, वह ही ईश्वर हो सकता है । अब जो दूसरी बात साधक को करनी है वह है कि गुरु को और अपने को एक कर ले । पूज्य पण्डित जी कहते हैं कि गुरु से मिलना और बात है और गुरु में मिलना और बात है । तो अब साधक का कार्य केवल यह रहता है कि अपने को गुरु में लय कर दे, उनको एक दूसरे में मिला दे । जितनी साधनायें हैं, इसी कार्य के लिए होती हैं । ज्ञान योग का साधक ज्ञान द्वारा यही करता है । "सोऽहम्" जो वह है वही मैं हूँ और इसके द्वारा अपने को उस परमात्मा में या गुरु में लय कर देता है परन्तु ज्ञान योग में हम केवल सोऽहम् का जाप करते रहें तो वह स्थिति नहीं हो सकती । यह तो ज्ञान के द्वारा हमको अन्तःकरण में यह अच्छी तरह बैठाना पड़ेगा कि जो वह है वही मैं हूँ । जब यह स्थिति आती है तब दोनों लय हो जाते हैं । राज योगी इस लय की स्थिति के लिए वही करता है जो महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" । योग में ईश्वर से मिलना क्या है कि चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध हो जाय । भक्ति योग वाला प्रेम के द्वारा अपने इष्ट को एवं स्वयं को लय कर देता है । इन तीनों में द्रष्टा और दृश्य एक हो जाता है । लेकिन इन तीनों में साधक दृष्टा नहीं कर्त्ता था । जैसा आपने अभी सुना है कि हमारे यहाँ की साधना द्रष्टा योग है क्योंकि इन तीनों के अलावा चौथा योग और है जो समर्पण योग कहलाता है । इस योग में साधक को कुछ नहीं करना पड़ता । सारा कार्य गुरु कृपा करती है । वह तो केवल गुरु को प्रसन्न करता है कि किस तरह से गुरु की कृपा मुझको प्राप्त हो उसका सारा प्रयास इस पर होना चाहिये । गुरु ने जो साधना बताई उसे भी वह ऐसे करता है कि द्रष्टा रहता है और यह सोचता है कि गुरु की शक्ति ही सारा कार्य कर रही है यानी यह समर्पण ऐसे हैं जैसे कोई गाड़ी में बैठता है तो निश्चित होकर बैठता है कि वह अपने गन्तव्य स्थान पर अवश्य पहुँच जायेंगे और कोई चिन्ता नहीं रहती । ऐसे ही साधना में आप द्रष्टा बनकर बैठे रहते हैं । इसके अलावा गुरु की

कृपा प्राप्त करने के लिये जो आवश्यक है वह उनकी सेवा है । सेवा का मतलब यह है कि तन, मन, धन से उनकी सेवा हो । परन्तु तन की और धन की सेवा, मन की सेवा का एक मापदण्ड है । असली सेवा जिससे कि गुरु प्रसन्न होता है, वह मन की सेवा है, परन्तु वह पहले दिन नहीं आती । शुरू में तन से सेवा होती है, फिर धन से सेवा होती है । जब एक स्थिति आती है तब साधक मन से सेवा करने के लायक बनता है । यहाँ एक गड़बड़ हो जाती है । साधक यह समझता है कि सिर्फ गुरु की सेवा कर लो और गुरु प्रसन्न हो ज़ायेगा । लेकिन, जैसा आप लोगों ने सुना भी होगा बौद्ध धर्म में कहते हैं बुद्धम् शरणम् गच्छामि, शंघम् शरणम् गच्छामि, यानी गुरु अपने से ज्यादा अपने सेवक की सेवा से प्रसन्न होता है । बहुत से लोग केवल उनको सेवा से प्रसन्न करना चाहते हैं वे यहाँ गलती कर देते हैं क्योंकि हमारे यहाँ तो सब यह सोचते हैं कि पराये भी अपने लगने लगें । इस सत्संग की नींव जिन्होंने डाली परम पूज्य गुरु महाराज, जिया, पूज्य पण्डित जी, बड़े भैया सब अपने हाथों से सत्संगियों की सेवा करते थे । ऐसा नहीं था कि उन्होंने केवल आचार्य की तरह ही सेवा की हो । वह सेवा, अपने हाथों से ऐसे ही करते थे जैसे अपना बेटा, पुत्री, भाई आये हों लेकिन मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे यहाँ आचार्यों में यह कमी आ गई है कि वे अपनी सेवा तो लेते हैं परन्तु सत्संगियों की सेवा करने में हिचकते हैं जैसे यह अपने पुत्रों की और भाई-बहिनों की सेवा करते हैं । वैसे ही सबको अपना समझें तब यह कार्य पूरा होगा । जिन्होंने जिया माँ को देखा होगा जो सत्संगी उनसे मिलने जाता था चाहे वे जितना भी बीमार होतीं, बैठकर उनसे ऐसे बातें करतीं जैसे कोई विशिष्ट व्यक्ति आया हो और हाथ से सेवा करने के लिये तो सभी प्रसिद्ध थे कि वे सभी सत्संगियों की सेवा करते थे । यह नहीं दिखाते कि मैं तुम्हारी सेवा कर रहा हूँ । मैंने गुरु महाराज को देखा है कि सत्संगी को घर खाना खाने भेज देते, उनकी चारपाई लगाते, बिस्तर लगाते, साथ में

काम करते और कभी-कभी गुसलखानों में पानी रख देते किन्तु यह दुःख की बात है कि अपने सत्संग में सेवा के बारे में कमी आ गई। सत्संगी भाई भी एक दूसरे की सेवा करने में हिचकिचाते हैं । त्याग करने में घबड़ाते हैं ।

यह गुरु कृपा प्राप्त करने का रास्ता है । सबसे ज्यादा गुरु इसी बात से प्रसन्न होते हैं कि उनकी जो आध्यात्मिक सन्तान है, उनकी सेवा हो । तीसरी बात जो गुरु को प्रसन्न करने की है वह यह है कि मन उनके चरणों में लगावें । हम यह चाहते हैं कि गुरु हमारी इच्छा से चलें । हम भूल जाते हैं कि हम. उनकी कृपा प्राप्त करने आये थे । मगर चाहते हैं कि वह हमारा कहना मानें जो कुछ हम चाहते हैं वैसा करें । हम मनमुख हैं गुरु मुख नहीं हैं । असली कार्य यह है कि जैसा कृष्ण ने अर्जुन को कहा था कि हे अर्जुन तू मेरे मन वाला हो जा । तो हमको भी यही करना है कि गुरु की इच्छानुसार चलना है । जो यह कार्य करता है वही इस मार्ग में आगे बढ़ता है ।

**

हृदय की निर्मलता -- कब और कैसे

एक बात दिखाई देती है कि अब-जब किसी भक्त को भगवान का दर्शन हुआ, तो उसकी एक विशेष स्थिति थी, और उस स्थिति में उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी थीं, मन स्थिर और शान्त था और हृदय निर्मल था । जब यह तीनों चीजें एक समय में होती हैं तब भक्त को भगवान का दर्शन होता है । इसमें से दो चीजें -- वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होना और मन स्थिर-शान्त होना -- यह साधना के द्वारा करना पड़ता है और हृदय निर्मल होना उस साधना का फल है । यह जो साधना अभी हमने की इसमें वह दोनों कार्य पहले होते हैं । वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं और मन स्थिर और शान्त होता है । पहले जैसा आपने अभी किया हम अपने इष्ट या गुरु को सामने बैठाते हैं । उस समय संसार से अपनी वृत्तियाँ हटाकर उसमें लगाते हैं और फिर उसका प्रकाश रूप लेकर अपने हृदय में देखने लगते हैं और बाहर वाले इष्ट या गुरु को भी भूल जाते हैं । यहाँ से वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होना प्रारम्भ होती हैं । जैसे-जैसे उस प्रकाश पर हम अपना मन केन्द्रित करते हैं, मन धीरे-धीरे अपने अवगुण देखने लगता है । इससे पहले हमारी आदत यह होती है कि हम दूसरों की बुराइयाँ करते हैं अपनी तारीफ । हम दूसरों के अवगुण देखते हैं, अपने केवल गुण देखते

हैं। लेकिन जैसे साधना प्रारम्भ होती है धीरे-धीरे मन शान्त होने लगता है । वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होने लगती हैं । साधक अपने अवगुण देखने लगता है और जब अवगुण देखेगा तो यह कसम भी खायेगा कि इस बुरे काम को आगे से मैं नहीं करूँगा । सूफियों में इसी को तोबा करना कहते हैं । लाला जी महाराज -- दादा गुरु महाराज यह कहते थे कि अध्यात्म का पहला कदम यही है कि साधक तोबा करना सीखें, क्योंकि यहीं से हृदय का निर्मल होना शुरू होगा । जब तक वह अपने अवगुण देखेगा नहीं तो उनको दूर करने का प्रयास भी नहीं करेगा और जब साधक अपने अवगुण देखकर उनको दूर करने का प्रयास करने लगता है तब वह अध्यात्म में पहली सीड्डी चढ़ता है । यह जरूरी है हर एक के लिए । अगर कोई साधक या कोई आचार्य यह सोचे कि बिना हृदय निर्मल हुए मैं ईश्वर को प्राप्त कर लूँगा, तो यह अपने को धोखा देना है । यह परम आवश्यक है कि हम अपने अवगुण देखकर उनको दूर करना प्रारम्भ करें । अब जब मन स्थिर और शान्त हो जाता है तो बुद्धि अपना ज्ञान ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने लगती है और धीरे-धीरे वह अपनी इच्छायें गुरु की इच्छा में मिला देता है । परमात्मा को सब में देखने लगता है और उस समय वह समर्पण करता है । वही कार्य करता है जो कृष्ण ने अर्जुन को कहा था कि "मन्मना भव" । इसके बारे में एक प्रसंग है । हजरत मूसा एक दिन ध्यान कर रहे थे कि उनके मन के चिदाकाश में कम्पन हुआ । यह आकाशवाणी या इलहाम कहलाता है । उनको ऐसा लगा कि खुदा कुछ कह रहा है । तो उन्होंने सुनने की कोशिश की तो पता लगा कि खुदा उनसे पूछ रहा है कि ऐ मूसा क्या मैं तेरा हो जाऊँ तो उन्होंने कहा नहीं । फिर आवाज आई तो क्या तू चाहता है कि तू मेरा हो जा । उन्होंने फिर कहा कि 'नहीं' । तो फिर आवाज आती है कि फिर तू क्या चाहता है तो हजरत मूसा बोले कि

मैं तो तेरी मर्जी का कद्रदाँ हूँ। मैं तेरी मर्जी से रहना चाहता हूँ। वह वही बात थी जो भगवान कृष्ण ने कहा था कि हे अर्जुन तू मेरे मन वाला हो जा। यह अन्तिम सीढ़ी कहलाती है, राजी व रजा की। पहली सीढ़ी तो तोबा करना है अन्तिम सीढ़ी राजी व रजा की है। इस बीच में अध्यात्म की सारी चढ़ाई है। अन्तिम पद बिना समर्पण किये किसी को आज तक नहीं मिला।

अब यह नैवेद्य रखा है। गुरु महाराज का ही दिया हुआ है। दो मिनट आँख बन्द करके उन्हीं को अर्पण करें और उनसे यह प्रार्थना भी करें कि हमको कृपा करके पहली सीढ़ी चढ़ने की शक्ति दें।

**

भय और शोक से कैसे पीछा छूटे

जो ध्यान की क्रिया आपने की, यह योग साधना कहलाती है । आजकल अखबार और मैगजीन्स में जो योग शब्द इस्तेमाल होता है वह उन क्रियाओं के लिए होता है जो इस शरीर को पुष्ट बनाती है, जैसे आसन और प्राणायाम । परन्तु योग शब्द का असली अर्थ है परमात्मा से मिलना और इस मिलन की जितनी साधनायें हैं उनको भी हम योग ही कहते हैं । तो इस समय जो हमने साधना की वह भी योग है । महर्षि पतञ्जलि ने योग पर बहुत अन्वेषण किया और उन्होंने विभिन्न क्रियायें लिखी हैं जिनके द्वारा योग होता है । उसी में से एक सूत्र है ''विशोका वा ज्योतिषमती'' इस सूत्र में दो कार्य करने को कहा । एक तो ज्योति का ध्यान यानी प्रकाश का ध्यान करना । दूसरा विशोका यानी शोक रहित होना । इसके बारे में टीकाकार अक्सर लिख देते हैं कि प्रसन्न चित्त होकर ज्योति या प्रकाश का ध्यान करने से परमात्मा मिलते हैं परन्तु प्रसन्न चित्त कैसे रहा जा सकता हैं, इस पर विचार करना चाहिए ज्योति या प्रकाश वह परमात्मा का रूप है, जो सब धर्मों में एक सा है । सभी धर्म कहते हैं कि परमात्मा प्रकाश रूप है । खुदा नूर है । (God is light) गौड इज लाईट । यह परमात्मा का एक वह रूप है जो सब धर्मों में और समुदायों में मान्य है । इसलिये गुरु भी वह नहीं होता जो उसके स्थूल शरीर दिखायी देता है । उसकी आत्मा होती है और आत्मा प्रकाश ही है जिसका ध्यान किया जाता है । इस समय जो क्रिया आपने की उसमें यही कहा था कि परमात्मा या गुरु से प्रकाश

लेकर उस प्रकाश को आप अपने हृदय में ले जाएँ और उसी पर अपना ध्यान केन्द्रित करें और दूसरी जो बात है कि विशोक रहित कैसे रहा जाय या प्रसन्न चित्त कैसे रहें, इस बारे में सोचें कि शोक क्या है ? कोई भी दुःख का विचार जब हम पकड़ लेते हैं और हर समय वह हम से लगा रहता है । तो हम एक स्थिति में पहुँचते हैं जिसको शोक कहते हैं । जैसे हमारे किसी प्रिय की मृत्यु हो जाय तो उसका जो दुःख है हमें हर समय लगा रहता है इसीलिए उसको शोक कहते हैं और इस स्थिति से अगर हम हट जायें, हमारा मन दूसरे विचार में चला जाय तो हमारे शोक की स्थिति समाप्त हो जाती है । इसके बारे में भगवान बुद्ध ने कहा था कि अत्यन्त प्रिय वस्तु ही भय और शोक का कारण होती है । यदि हम अत्यन्त प्रिय वस्तु से अपना बन्धन हटा दें तो भय और शोक से मुक्ति हो गई । जिस वस्तु को हम प्यार करते हैं उसके कारण हमको दो चीजें मिलती हैं, एक भय दूसरा शोक । भय तो इस बात का रहता है कि वह वस्तु हम से छीन न ली जाय और शोक तब होता है जब वह वस्तु हम से छीन ली जाती है । अगर प्रिय वस्तु कोई भी हो जो हम से छीन ली जायेगी तो हमें शोक होगा और अगर वह हमारे पास है तो जब तक हमारे पास है वह हमको आनन्द तो देती है सुख भी देती है परन्तु यह भय लगा रहता है कि कब हम से यह छिन जायेगी, तो अत्यन्त प्रिय वस्तु हमेशा भय और शोक का कारण होती है । अब दूसरी बात सोचने की है कि जैसा भगवान बुद्ध ने कहा था कि इससे यदि बन्धन काट ले तो भय और शोक से मुक्ति हो सकती है । अत्यन्त प्रिय वस्तु से हमारा बन्धन किस बात का है ? सिर्फ इस बात का है कि यह मेरी वस्तु है, मैं और मेरी वस्तु यह जो बन्धन है, यही शोक का कारण है । यदि इस मेरा का बन्धन हम काट दें तो शोक से मुक्ति हो सकती है । गुरु महाराज कहते थे कि संसार में मैं और मेरा का बन्धन काट कर, तू और तेरा का बन्धन बना लेना चाहिए । जो कुछ है वह गुरु या परमात्मा का है । इसी को कहते हैं मैं और मेरा

का बन्धन काट देना । यदि हम वस्तु कोई अपनी न समझें तो हमें उसके छोड़ने पर शोक नहीं होगा । यदि आपके घर में चोरी हो जाये, टेलीवीजन कोई चोर उठा ले जाय तो दुःख होगा, शोक होगा, परन्तु आप रोज सुनते हैं कि फलाँ के घर में चोरी हो गई, यह वस्तु चोर उठा ले गये । उस समय आपको दुःख या शोक नहीं होता, यह इसी कारण कि उससे आपको ममत्व नहीं है ।

महर्षि विश्वामित्र जी बड़े तपस्वी थे और वशिष्ठ ब्रह्मज्ञानी । उस समय की प्रथा थी कि वशिष्ठ जी जिसको ब्रह्म ऋषि कह देते थे वही ब्रह्म ऋषि माना जाता था । विश्वामित्र जी बड़े तपस्वी थे उनकी यह इच्छा हुई कि मैं भी ब्रह्म ऋषिं कहलाऊँ । उन्होंने ऐसा किया कि वशिष्ठ जी के कई पुत्रों को कत्ल कर दिया क्योंकि वशिष्ठ जी उनको ब्रह्म ऋषि कहने के लिए तैयार नहीं हुए । एक दिन जब विश्वामित्र को अधिक क्रोध आया तो वे वशिष्ठ जी को मारने के लिए उनकी कुटिया पर पहुँचे । सन्ध्या काल था, अन्धेरा सा था लेकिन अन्दर लोग जाग रहे थे । वे कुटिया के सहारे वहीं खड़े हो गये और उन्होंने सुना कि वशिष्ठजी और उनकी पत्नी में कुछ वार्तालाप हो रहा है । वशिष्ठ जी की पत्नी कह रही थीं कि आज घर में नमक नहीं है, बिना नमक का ही भोजन करना पड़ेगा । तो वशिष्ठ जी कहते हैं, यहीं से थोड़ी दूर पर विश्वामित्र की कुटिया है वहीं से नमक ले आओ । तो उनकी स्त्री क्रोध में बोलीं कि आप भी कैसे पुरुष हैं जिस मनुष्य ने मेरे निर्दोष पुत्रों का कत्ल कर दिया उसके घर से मुझको नमक लाने को कहते हैं । तो. वशिष्ठ जी बोले – नहीं, जिसने पुत्र दिये थे उसने ले लिये । इसमें विश्वामित्र का क्या दोष ? मैं तो विश्वामित्र से बहुत प्रेम करता हूँ । यही वह स्थिति है जिसको शोक रहित स्थिति कहते हैं । वशिष्ठ समझते थे कि जिसने पुत्र दिये थे उसी ने ले लिये, इससे उनसे मेरे का सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार अगर आप सिख गुरुओं का इतिहास पढ़ें तो आप देखेंगे कि उनके एक गुरु पुत्र उनके सामने ही दीवार में जिन्दा चुन दिये गये थे परन्तु

वह उसी तरह प्रसन्न रहे तो यह विशोक की स्थिति है जिसमें शोक रहित रहा जाता है । इसलिए गुरु महाराज ने कहा था कि हमारे यहाँ दो काम करने पड़ते हैं । एक तो यह अभ्यास की क्रिया सुबह-शाम करनी है, दूसरी गुरु की याद करते रहें क्योंकि जिसकी हम याद करते हैं उससे प्रेम हो जाता है, और जब प्रेम हो जायेगा तभी आप उसकी वस्तु अपनी समझने लगेंगे, वर्ना वस्तु कोई किसी को नहीं देता । जो मेरा का बन्धन है, वही तेरा का बन्धन तभी होता है जब आप गुरु से अत्यन्त प्रेम करते हैं । इसी बात के लिए भगवान कृष्ण ने अर्जुन को समझाया था कि मन को वश में करने के लिए हमको एक ही कार्य करना है, अभ्यास और वैराग्य । वैराग्य यही है कि मेरा का बन्धन काट कर तेरे का बन्धन कर लो । यह नहीं कि जंगल चल दो । इसीलिये योग, परमात्मा से मिलने के लिए यही दो काम करना है । एक तो सुबह-शाम प्रकाश का ध्यान करें और दिन में जब भी मौका मिले गुरु की याद करते रहें और धीरे-धीरे अपनी वस्तु जिससे मेरे का सम्बन्ध है, उसको तेरा में बदल दें ।

**

साधन प्रकाशन

डेम्पियर नगर, मथुरा